हमारी पूरी कोशिश है कि आपको हिंदी की अधिकतम पुस्तकें मुफ्त उपलब्ध करायी जायें और इन्टरनेट पर हिंदी की उपस्थिति को अधिक से अधिक बढ़ाया जाए | इसी क्रम में मैं आपके सामने एक से एक अधिक पुस्तकें प्रस्तुत कर रहा हूँ |

परन्तु जैसा कि आप जानते हैं इंटरनेट पर किताबें अपलोड करने , उन्हें हमेशा उपलब्ध रखने , तथा साईट अच्छी तरह और सरल रूप से काम करे इसके लिए अत्यंत मेहनत के साथ साथ संसाधनों की भी आवश्यकता होती है , और यही वह कारण है जिसकी वजह से अभी तक हिंदी भाषा की कोई भी वेबसाइट एक दो साल से ज्यादा नहीं चली है और बहुत ही अल्प समय में एक से एक अच्छी वेबसाइट बंद हो चुकी हैं |

यह चुनौती हमारे सामने भी है , लेकिन एक विश्वास भी कि हिंदी के जागरूक हो रहे पाठकों को इस समस्या के बारे में अंदाज़ा है और वे इस बारे में केवल मूकदर्शक नहीं है | हम आपको हिंदी की पुस्तकें देंगे , हिंदी में जानकारी देंगे और बहुत कुछ देंगे और हमें आशा है कि आप भी हमे बदले में अपना प्यार देंगे और हमारी मदद करेंगे हिन्दी को सम्म्रद्ध बनाने में |

अपना हाथ बढाइये और हमारी मदद कीजिये | मदद करने के लिए जरूरी नहीं है कि आप पैसे या आर्थिक मदद ही करें , आप जिस तरह चाहें उस तरह हमारी मदद कर सकते हैं | हमारी मदद करने के तरीकों को आप यहाँ देख सकते हैं |

आशा है आप हमारी सहायता करेंगे |

अगर आपको हमारा प्रयत्न पसंद आया हो तो सिर्फ 500 रू. का सहयोग करे| आपका सहयोग हिंदी साहित्य को अधिक से अधिक विस्तृत रूप देने में उपयोगी होगा | आप Paypal अथवा बैंक ट्रान्सफर से सहयोग कर सकते हैः | अधिक जानकारी के लिए मेल करें preetam960@gmail.com अथवा यहाँ देखें

धन्यवाद

Please Donate to Support This Project.

A small donation from you can decide the future of Hindi.

HELP US HELP HINDI.

Donate Only Rs.500

Click To Donate via Netbanking or Debit/Credit Card (100% secure).

Or Contact - preetam960@gmail.com

Or 08869800176

नेताजी
सुभाष चन्द्र बोस

राष्ट्रीय जीवनचरित

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस

शिशिर कुमार बोस

अनुवाद

[illegible]म अरोड़ा

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

इस पुस्तक का मूल भाषा में प्रकाशन पहली बार सितंबर, 1986 में सत्यदेव चक्रवर्ती द्वारा लिबर्टी पब्लिशर्स के लिए किया गया

ISBN 81-237-1840-3

पहला संस्करण : 1996
पहली आवृत्ति : 1997 (*शक* 1919)

Original Title : The Flaming Sword Forever Unsheathed : A Concise Biography of Netaji Subhash Chandra Bose

Hindi Translation : Netaji Subhash Chandra Bose

रु. 32.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

प्रस्तावना

नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की यह संक्षिप्त जीवनी मूलतया केंद्रीय कांग्रेस शताब्दी समारोह समिति के अनुरोध पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के शताब्दी समारोह के सिलसिले में लिखी गयी थी। लेकिन उस समय यह प्रकाशित नहीं हो सकी और इसकी पांडुलिपि अंततः लेखक को लौटा दी गयी।

यह जीवनी जिज्ञासु प्रकृति के सामान्य पाठक का प्रयोजन सिद्ध करती है, खासकर नयी पीढ़ी के पाठक का, जिसे राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम का प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव नहीं मिला। मात्र कुछ पृष्ठों में यह पुस्तक समकालीन भारतीय इतिहास के एक अनूठे व्यक्तित्व के जीवन और चरित्र की संपूर्ण रूपरेखा का व्यापक मसौदा प्रस्तुत करती है। वर्णित व्यक्तियों एवं घटनाओं के बारे में पाठकों पर अपनी राय या व्याख्याएं न थोपने में लेखक ने पूरी सावधानी बरती है। ऐतिहासिक घटनाओं के प्रति उसने पूर्णतया सत्यनिष्ठ रहने का प्रयास किया है और जहां तक बन पड़ा है, इनके प्रति नेताजी की प्रतिक्रियाएं और व्याख्याएं उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत की हैं। यह आवश्यक और महत्वपूर्ण हो उठा है कि ऐतिहासिक वास्तविकताओं और नेताजी द्वारा की गयी इनकी व्याख्याएं भारतीय एवं विदेशी पाठकों के समक्ष रखी जायें; क्योंकि शासन और विद्वत्समाज के सत्ता-पिपासु लोग राष्ट्रीय इतिहास को निजी संपत्ति बनाने, उस पर एकाधिकार जमाने और विकृत करने की जघन्य, लज्जाजनक एवं दुराग्रहपूर्ण कोशिशें करते रहे हैं।

पाठकों की सुविधा के लिए, आधुनिक भारत के सबसे जादुई मगर जटिल एवं विवादास्पद व्यक्तित्व के इस लघु जीवनचरित को विषयवस्तु के अनुसार बत्तीस अध्यायों में बांटा गया है। अतिरिक्त, उपयोगी पाठ्य सामग्री की एक छोटी-सी सूची सबसे अंत में दी गयी है।

पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने में अमूल्य योगदान के लिए मैं श्री अरुण कुमार चक्रवर्ती, श्री सुधीर रंजन दास तथा अपने बच्चों के प्रति हार्दिक धन्यवाद अभिव्यक्त करना

चाहता हूं। पुस्तक की उपयुक्त डिजाइनिंग तथा रिकार्ड समय में इसके प्रकाशन को संभव बनाने के लिए मैं श्री शंकर मजुमदार एवं सेंट्रल कैलकटा प्रिंटिंग वर्क्स की भरपूर सराहना भी करना चाहता हूं।

जय हिंद!

शिशिर कुमार बोस

वसुंधरा,
90, शरत बोस रोड,
कलकत्ता-700 026

1

ब्रिटिश घुसपैठियों के हाथों 1757 की बंगाल पराजय के बाद सौ वर्ष तक भारत के लोग, अपनी खोयी हुई आजादी वापस पाने के लिए, कठिन और त्रासद लड़ाइयों के लंबे दौर में उलझे रहे। स्वतंत्र नागरिकों के रूप में अंतिम लड़ाई उन्होंने आखिरी मुगल सम्राट बहादुरशाह जफर के परचम तले 1857 में लड़ी। लेकिन उनका तमाम शौर्य और आत्म-बलिदान निष्फल रहा; भाग्य और नेतृत्व की खामियों ने उन्हें निर्णायक रूप से ढहाकर दासताबद्ध कर दिया। प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में हमारी हार के बाद, 1858 में, भारत का प्रशासन सीधे तौर पर ब्रिटिश ताज ने संभाल लिया। ब्रिटिश सम्राज्यवाद योजनाबद्ध तरीके से भारत पर शिकंजा कसने में जुट गया, फलस्वरूप समकालीन भारतीय इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। 1857 के बाद के नब्बे क्रांतिकारी वर्षों में से सुभाष चन्द्र के जन्मवर्ष-1897 का अपना ही महत्व है। इससे चालीस वर्ष पूर्व भारतवासियों ने अपना पहला सशस्त्र स्वाधीनता संग्राम छेड़ा था; और पैंतालीस वर्ष बाद स्वयं सुभाष चन्द्र बोस ने भारतीय स्वंतत्रता के लिए अंतिम सशस्त्र संघर्ष की कमान संभाली। 1897 में, जिन दिनों महारानी विक्टोरिया के राज का स्वर्ण समारोह मनाया जा रहा था; उड़ीसा के एक मामूली शहर में, भारत का वह अनूठा स्वतंत्रता सेनानी जन्म ले रहा था जिसे पैंतालीस वर्ष बाद ब्रिटिश राज की नींव तक हिला देनी थी। सुभाष का जन्मवर्ष वस्तुतया भारतवासियों के अपने गौरवशाली मुक्तिसंघर्ष का मध्यबिंदु है।

सुभाष चन्द्र के पिता जानकीनाथ बोस यों तो बंगाल के 24 परगना जिले के एक छोटे-से गांव के रहने वाले थे, लेकिन वकालत जमाने के लिए कटक आ बसे थे। कालांतर में उड़ीसा की राजधानी बननेवाला कटक उन दिनों बंगाल प्रेजीडेंसी के दूरस्थ अंचल का एक छोटा-सा कसबा था, जिसका कलकत्ता से रेल-संबंध तक नहीं था। जानकीनाथ द्वारा जीविका के लिए कटक की ओर रुख करना अपने आपमें एक जोखिम था, मगर भाग्यदेवी साहसिकों की चेरी होती है। अतः सुभाष चन्द्र के जन्म के समय अपने नये वतन में जानकीनाथ अपनी वकालत के शिखर तक पहुंच चुके थे। वे सरकारी वकील बन गये थे और कटक नगरपालिका के प्रथम गैरसरकारी अध्यक्ष भी चुने गये। 1912 में वे बंगाल विधान परिषद के सदस्य बने। जब वे सरकारी वकील थे, तब भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

के अधिवेशनों में जाते रहते थे, जिससे उन्हें समय समय पर अफसरों की अप्रसन्नता का शिकार होना पड़ता था। 1930 में जब महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन छेड़ा और ब्रिटिश सरकार ने सरे आम आतंक और दमन का मार्ग अपना लिया, तो जानकीनाथ ने उसके विरोध स्वरूप अपने खिताब 'राय बहादुर' का परित्याग कर दिया। वे एक महान लोकसेवक और धर्मप्राण व्यक्ति थे तथा खादी, स्वदेशी और राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थानों के जबरदस्त हिमायती थे। उनके दो बेटों शरत और सुभाष ने जब खुद को कांग्रेस और राष्ट्र के प्रति समर्पित कर दिया तो पिता ने दोनों को हार्दिक सहयोग दिया।

सुभाष की मां प्रभावती हाटखोला, उत्तरी कलकत्ता के एक परंपरावादी दत्त परिवार से आई थीं, वे आठ पुत्रों और छह बेटियों की जननी थीं, जिनमें से सुभाष नौवें स्थान पर थे। वे दृढ़ इच्छाशक्ति की स्वामिनी थीं और वास्तविकता के प्रति प्रखर सूझबूझ तथा अचूक व्यवहार कुशलता की धनी थीं। समूचे घरेलू कारोबार पर उनका वर्चस्व था और वे अपने विशाल परिवार का संचालन अनुकरणीय क्षमता से करती थीं। देश की स्वतंत्रता को समर्पित उनके दो बेटों, शरत और सुभाष को तमाम कष्टों और बलिदानों से गुजरना पड़ा, मगर मां और पिता ने इस दौरान अद्भुत धैर्य से काम लिया। दिसंबर 1921 में जब उन्हें सुभाष की पहली गिरफ्तारी की खबर मिली तो पिता ने बड़े बेटे शरत को एक पत्र लिखकर कहा कि उन्हें, "सुभाष पर गर्व है और तुम सब पर गर्व है।" मां की टिप्पणी थी कि गिरफ्तारी की उम्मीद तो वे रोज ही करती थीं, क्योंकि "महात्मा गांधी के आत्मत्याग के सिद्धांत" में वे आस्था रखती और मानती हैं कि इसी से देश को स्वराज मिलेगा।

बोस परिवार का वंशवृक्ष सत्ताईस पीढियां पुराना है, जिसका बीजारोपण किया था दशरथ बोस ने। दशरथ बोस के वंशज कलकत्ता के दक्षिण में, करीब चौदह मील दूर, महीनगर गांव में आ बसे और 'महीनगरवाले बोस' कहलाने लगे।

दशरथ बोस की ग्यारहवीं पीढ़ी में जन्मे, विलक्षण व्यक्तित्व महीपति बोस से प्रभावित होकर बंगाल के नवाब ने उन्हें अपने वित्त और युद्ध विभाग का मंत्री बना दिया। महीपति को नवाब ने 'सुबुद्धि खान' का खिताब दिया और शाही कद्रदानी के तौर पर एक जागीर दी। यह जागीरी गांव आज भी सुबुद्धिपुर कहलाता है। महीपति के पड़-पड़तोते गोपीनाथ बोस भी असाधारण मेधा और क्षमता के स्वामी थे और पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में सुलतान हैदरशाह के वित्तमंत्री एवं जलसेनापति बने थे। उन्हें 'पुरंदर खाल' का खिताब मिला और उनकी जागीर, जो महीनगर से ज्यादा दूर नहीं है, आज तक पुरंदरपुर कहलाती है। चूंकि पुरंदर और उनके पुरखे पीढ़ियों तक वजीर रहे थे, इसलिए प्रभाव और प्रतिष्ठा खानदान के कदम चूमते रहे। और चूंकि पुरंदर महीनगरवासी थे, इसलिए महीनगर दक्षिण बंगाल

के कायस्थों का हृदयस्थल बन गया। पुरंदर ने एक महान समाज सुधारक के रूप में भी अपनी छाप छोड़ी। उन्होंने एक लाख से भी अधिक लोगों का सम्मेलन आयोजित किया था, जिसमें कायस्थ समाज की घिसी-पिटी परिपाटियों को सुधारने और समूची बिरादरी को एकजुट करने के तरीकों पर विचार-विमर्श हुआ था। इस विशाल जमावड़े को शुद्ध पेयजल जुटाने के लिए पुरंदर ने एक लंबा-चौड़ा तालाब खुदवाया, जिसके लिए भारी तादाद में मजदूर जुटाये गये। काम के बाद, रोज, शाम को ये मजदूर महीनगर से लगे एक स्थान पर अपनी कुदालें सुरक्षित रख देते। कालांतर में यह स्थान 'कुदालिया' नाम से विख्यात हुआ। इसी कुदालिया गांव में जानकीनाथ का जन्म हुआ; और यहीं आखिरकार उनके परिवार क़ा मुकाम बना। जानकीनाथ और सुभाष समेत उनकी संतति का कुदालिया से गहरा लगाव रहा। जानकीनाथ ने जीवन के अंत तक अपने गांव से गहरा रिश्ता बनाये रखा और उसके उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहे। दुर्गा-पूजा पर वे खुद और उनके बाल-बच्चे हमेशा यहीं होते तथा बंधु-बांधवों और बिरादरी से अपना भाईचारा मजबूत करते। महज पंद्रह बरस की उम्र में सुभाष चन्द्र ने अपने इस पुश्तैनी गांव की बाबत मां प्रभावती के हृदय को उद्वेलित कर देनेवाले पत्र लिखे थे। शरत्‌चन्द्र ने, पिता के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए, अपनी सामर्थ्य को लांघकर भी कुदालिया में ग्रामीण पुनरुत्थान को बढ़ावा दिया था।

बोस परिवार के अलावा, नन्हें-से कुदालिया गांव ने भारत की स्वतंत्रता के लिए सर्वस्व निछावर कर देनेवाले समर्पित देशभक्तों और क्रांतिकारियों का एक पूरा परिवार उत्पन्न किया था। इसी में से एक थे, मानवेंद्रनाथ राय।

2

सुभाष चन्द्र ने अपनी आत्मकथा में लिखा है : "अपने बारे में मेरी प्रारंभिक स्मृति यह है कि मैं अपने-आपको नितांत तुच्छ प्राणी समझता था।" बचपन में वे माता-पिता की प्रगाढ़ता पाने को ललकते रहते थे, जो परिवार के विस्तार और माता-पिता के रौबीले व्यक्तित्वों के कारण उन्हें प्राप्त नहीं थी। जो बच्चा शुरू शुरू में स्वयं को इतना उपेक्षित समझता रहा हो, उसके व्यक्तित्व के विकास के महत्वपूर्ण चरणों का जायजा लेना रोचक ही होगा।

प्राइमरी शिक्षा के लिए सुभाष को, अपने अग्रजों की तरह, कटक के प्रोटेस्टेंट यूरोपियन स्कूल में दाखिल किया गया था। यह स्कूल अंग्रेजाना तर्ज एवं तौर-तरीकों की बुनियाद पर खड़ा था। यों सुभाष और वहां पढ़नेवाले बाकी बच्चों का, भारतीयों द्वारा संचालित स्कूलों के अपने समकक्षों के मुकाबले, अंग्रेजी और अंग्रेजियत का ज्ञान बेहतर था। ऐसे स्कूल में पढ़ने के अन्य फायदे थे—अनुशासन, सम्यक आचरण तथा रख-रखाव; कामकाज में नफासत और पाबंदी जैसी भावनाओं का उनकी मानसिकता में पैठ जाना। स्कूल से सुभाष को कोई शिकायत नहीं थी, मगर चेतना बढ़ने के साथ साथ उन्हें महसूस होने लगा कि वे और उनके हमजोली दो अलग दुनियाओं में रहते हैं, जिनमें सदैव साम्य नहीं मिलता। पढ़ाई में वे हमेशा अव्वल आते, पर खेल-कूद में मुंह की खाते। 1909 में, इस यूरोपियन मिशनरी स्कूल को अलविदा कहते समय उन्हें कतई रंज नहीं हुआ।

इसके बाद, रेवेनशा कालेजियेट स्कूल में आकर उनमें आमूल मानसिक एवं मनोवैज्ञानिक बदलाव आ गया। स्कूल के भारतीयता से परिपूर्ण वातावरण ने उनमें अपने बारे में बेहतर सोच-विचार और नया आत्मविश्वास जगाया। पढ़ाई-लिखाई में उनके श्रेष्ठ रहने की अपेक्षा थी ही—सिवा, शुरुआती दौर में, मातृभाषा बांग्ला के, जो प्राइमरी स्तर पर उन्हें पढ़ाई ही नहीं गयी थी। मगर यह कमी उन्होंने कमरकस मेहनत से पूरी कर ली और पहली वार्षिक परीक्षा में ही बांग्ला में सर्वाधिक अंक प्राप्त किये। यही नहीं, वे बड़ी उमंग से संस्कृत सीखने लगे। लेकिन खेलों में वे फिर भी कोरे ही रहे जिसका बाद में उन्हें जिंदगी भर अफसोस रहा। रेवेनशा कालेजियेट स्कूल में अध्यापक और विद्यार्थी, दोनों बंगाली भी थे और उड़िया भी; और दोनों में अत्यंत स्नेहपूर्ण संबंध थे। ऐसा ही स्नेह बोस परिवार

के घर में भी था, जहां बहुत से उड़िया हिंदू और मुसलमान सेवक थे। सुभाष चन्द्र के माता-पिता अपनी उदारता और अति सहृदयता के लिए विख्यात थे तथा समूचे परिवार पर उनका सीधा-पूरा असर था। यों सुभाष और उनके भाई-बहन संकीर्णता एवं प्रांतीयता की शब्दावली में सोचने या महसूसने में प्रायः असमर्थ ही थे।

अध्यापकों में से जिसने सुभाष के युवा मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ा, वे थे, रेवेनशा कालेजियेट स्कूल के हेडमास्टर बेनीमाधव दास। दास मोशाय ने अपने छात्र की विकासोन्मुख मानसिकता में "सौंदर्य एवं आचारशास्त्रीय मूल्यों" का अंतर्निवेश किया। गुरु ने शिष्य से कहा कि मनुष्य जीवन में नैतिक मूल्यों का स्थान सर्वोच्च है। उन्होंने उसे सीख दी कि प्रकृति को संपूर्णतया समर्पित हो जाओ; फिर प्रकृति की वाणी सुनो। परिणाम यह हुआ कि सुभाष अस्ताचलगामी सूर्य की मुग्धताकारी दीप्ति में, नदी-किनारे या टीलों पर एकांतपूर्ण शाद्वलों में सौंदर्यस्थलियां ढूंढ़-ढूंढ़कर ध्यानसाधना में लीन रहने लगे।

लगभग पंद्रह साल की उम्र में सुभाष चन्द्र ने, मानसिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, जीवन के एक सर्वाधिक झंझावाती दौर में कदम रखा। उनके अंतस को गहन वैचारिक द्वंद्व और यातना ने आ दबोचा। द्वंद्व था सांसारिक जीवन के प्रति सहज आकर्षण, सांसारिक लक्ष्यसिद्धियों, निम्नतर दैहिक लालसाओं तथा उनके उच्चतर अहं की भिन्न दावेदारियों के बीच। इसी, महज पंद्रह साल की उम्र में स्वामी विवेकानन्द ने उनके जीवन में प्रवेश किया। संयोग से ही स्वामी जी की कृतियां प्राप्त हुईं। वे किसी लोलुप की भांति उन्हें चाट गये और फिर उदय हुआ एक मानसिक क्रांति का। जिसकी खोज में वे भटक रहे थे, वह मिल गया—एक आधारभूत सिद्धांत, जिससे वे अपनी जीवन तुला को बांध सकें। विवेकानन्द को पढ़-गुनकर उन्होंने तय किया कि आत्मोद्धार के लिए स्वयं श्रम करना जीवन का उद्देश्य होना चाहिए और मानवता की सेवा में अपना सर्वस्व झोंक देना चाहिए। भगिनी निवेदिता की भांति सुभाष की भी यह मान्यता थी कि मानवता की सेवा में ही अपने देश की सेवा शामिल है, क्योंकि स्वामी विवेकानन्द के लिए "उनकी आराध्य देवी थी उनकी मातृभूमि।" उन्होंने स्वामी जी का यह आदेश शिरोधार्य किया कि प्रत्येक भारतीय उनका सहोदर है, और भारत की मुक्ति निर्भर है "जन-शक्ति" की जागृति पर। प्राचीन धर्मग्रंथों की विवेकानन्द प्रणीत यह आधुनिक व्याख्या सुभाष ने स्वीकार कर ली कि आस्था और शक्ति ही मोक्षद्वार तक ले जा सकती हैं।

विवेकानन्द से सुभाष उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस की ओर उन्मुख हुए, जिनकी शिक्षा का सार था कि आत्मोत्सर्ग से ही आत्मोद्धार संभव है। अब सुभाष ने रामकृष्ण-विवेकानन्द युवजन सभा का गठन किया। परिवार के भीतर और बाहर—दोनों ओर उस सभा को लेकर चिंता और विरोध व्यक्त हुए, पर बेकार रहे। पारिवारिक बंदिशों के बावजूद सुभाष का

सभा-समागम जारी रहा। लेकिन इधर तो वे परिवार और समाज के विरोध से जूझ रहे थे, उधर उनके भीतर निम्नार्ध से उपजनेवाले भावनात्मक उद्वेग ने बवंडर मचाना प्रारंभ कर दिया था। इस अत्यधिक आपाती दौर में सुभाष जितना ही घर से दूर रहते, उतना ही सुकून पाते। वे उत्कंठापूर्वक तरह तरह की योगाभ्यास संबंधी पुस्तकें पढ़ते; समझते कि मानसिक एवं आध्यात्मिक व्रत-नियम से सब ठीक हो जायेगा। लुके-छिपे वे ऐसे अभ्यास आजमाते रहते। जब भी, जैसा भी संन्यासी-वैरागी राह में आता, सुभाष और उनकी सभा के लड़के उसके इर्द-गिर्द जुट जाते। महीनों इस तरह के प्रयोगों के बाद उन्हें ऐसे योगाचार की निरर्थकता भली-भांति समझ में आ गयी और वे रामकृष्ण-विवेकानन्द के शिक्षादेशों का चिंतन करने लगे। सोलहवां साल पूरा करने से पहले ही सुभाष ने ग्रामीण पुनरुत्थान के कार्य का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लिया और उन्हें विश्वास हो गया कि धर्मसम्मत जीवन के लिए व्यक्तिगत योगनिष्ठा ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसके लिए मानवता की सेवा भी जरूरी है, जिसमें शामिल है मातृभूमि की सेवा। कम उम्र में ही अंधविश्वासों से छुटकारा पाने में सुभाष को विवेकानन्द से बेहद सहायता मिली, क्योंकि स्वामी जी का सेवाभियान बुद्धिसंगत दर्शन पर आधारित था। यह दर्शन विज्ञान और धर्म का समन्वय था।

प्रथम राजनीतिक प्रोत्साहन सुभाष को स्कूली जीवन के अंतिम दिनों में उस समय मिला जब उनसे कलकत्ता स्थित एक दल का दूत मिलने कटक आया। दल का द्विमुखी उद्देश्य था आध्यात्मिक उत्थान और राष्ट्र सेवा, जो उस वैचारिक दिशा के एकदम समानांतर था, जिस ओर उन दिनों सुभाष की चिंतन-धारा मुड़ रही थी। दल का मुखिया डाक्टरी का एक छात्र था। दोनों का वर्षों तक संपर्क बना रहा।

मैट्रिक की परीक्षाएं आयीं तो सुभाष के माता-पिता बहुत खिन्न रहने लगे कि उनका होनहार और मेधावी बेटा क्योंकर इतना बेलगाम, झक्की और हठी हो गया है। परिणाम आये तो सुभाष का विश्वविद्यालय भर में द्वितीय स्थान था। इससे माता-पिता खुशी से भर उठे। उन्हें लगा कि परिवेश बदलने और कलकत्ता के यथार्थपरक वातावरण में रहने से बेटे का बड़ा हित होगा, अतः आगे की पढ़ाई के लिए उन्होंने सुभाष को कलकत्ता भेज दिया।

3

घरवालों को गुमान तक नहीं था कि भाग्यदेवता कलकत्ता में सुभाष के लिए क्या छुपाये बैठा है। कस्बाई माहौल में पले-बढ़े एक तरुण छात्र के लिए कलकत्ता की जिंदगी कोई मनमाफिक परिवर्तन था भी नहीं। महानगर, वस्तुतया कितने ही होनहार युवकों की विनाशस्थली था। लेकिन सुभाष कुछ दृढ़ विचारों और सिद्धांतों के साथ कलकत्ता आये थे। उनका निश्चय था कि लीक नहीं पीटेंगे और ऐसी जिंदगी अपनायेंगे जो उनकी अपनी आध्यात्मिक उन्नति और साथियों के उत्थान में सहायक हो। जीवन को गंभीरता से अपनाना उन्हें आता ही था; और कालेज-जीवन का प्रारंभ करते समय इस बात का पूरा अहसास था कि जीवन का एक अर्थ भी है और लक्ष्य भी।

उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठित प्रेजीडेंसी कालेज में दाखिला लिया था। बिना समय खोये, कालेज खुलने से पहले ही, उन्होंने उस आदर्शवादी दल से संपर्क साध लिया, जिसका दूत साल भर पहले उनसे कटक में मिला था। कालेज में कुछ नवाभिजात्यों और राज-व्यवस्था के चाटुकारों के अलावा एक गुट था सीधे-सादे पढ़ाकुओं का; दूसरा, सुभाष का गुट था—खुद को रामकृष्ण-विवेकानन्द का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी माननेवालों का; और एक और गुट था—क्रांतिकारियों का गुप्त गुट।

सन् 1913 में, कटक छोड़ते समय, सुभाष में नौसिखियापन था। उनमें आध्यात्मिकता का आग्रह था और समाज सेवा की धारणा काफी धुंधली थी। कलकत्ता में उन्होंने सीखा कि समाज सेवा योग-साधना का ही अभिन्न अंग है और आधुनिकतामूलक राष्ट्रीय पुनर्निमाण भी समाज कार्य के दायरे में आता है। उनके दलवाले सिर्फ नये रंगरूट भरती करने की फिराक में ही नहीं रहते थे, बल्कि विशिष्ट महानुभावों से मेल-जोल भी रखते थे तथा ज्ञानवर्धन एवं प्रेरणा के लिए ऐतिहासिक और धार्मिक स्थलों का भ्रमण भी करते थे। उन दिनों उनके कल्पना पट पर एकदम खरे उतरनेवाले नेता थे—अरविन्द घोष। सुभाष और उनके साथियों को अरविन्द की जो बात बेहद भाती थी, वह यह कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मंच से वे वामपक्षीय स्वर उठाते थे और स्वतंत्रता की मांग करते थे, जबकि अन्य नेता औपनिवेशिक स्वायत्त शासन के हक में बोलकर ही संतुष्ट हो जाते थे। अरविन्द के घनिष्ठ सहयोगी लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक की भी बड़ी प्रतिष्ठा थी। यह अफवाह

उन दिनों बड़े जोर से उड़ी थी कि अरविन्द घोष पांडिचेरी जाकर ध्यानमग्न हो गये हैं और बारह वर्ष बाद बुद्धत्व प्राप्त करके और पुनर्वतरित होकर भारत का राजनीतिक उद्धार करेंगे। किंतु सुभाष को अरविन्द का रहस्यात्मक प्रभामंडल नहीं, उनका लेखन, दर्शन और उनकी यौगिक समन्वय की धारणा प्रभावित करते थे।

राजनीति से सीधा संबंध न होने तक सुभाष ने पीरों-फकीरों से मेल-जोल जारी रखा और स्वयं को तरह तरह के सामाजिक कार्यों में खपाये रखा। कालेज में पढ़ाई की उपेक्षा करने लगे; क्योंकि अधिकांश लेक्चर उन्हें अरुचिकर लगते। वाद-विवाद संबंधी आयोजनों, बाढ़ या अकाल-राहत के लिए चंदे जमा करने और सैर-सपाटे वगैरह पर बाहर जाने जैसे कामों में उनका रुझान बढ़ने लगा। ऐसी गतिविधियों ने उन्हें अपनी अंतर्मुखी प्रवृत्तियों को झटकने में बड़ी मदद पहुंचायी। समाज में मौजूद असमानता—एक ओर समृद्धि और दूसरी ओर असीमित अभाव—के प्रति वे अधिकाधिक सचेत होते गये। इस चेतना ने उनमें व्यवस्था के प्रति विद्रोह भर दिया और वे सामाजिक संबंधों के मूलाधारों पर चिंतन करने लगे। छुट्टियों में कटक गये तो वहां हैजा फैला हुआ था। और जब वे सारे अंतर्निषेध परे फेंककर, धुनी लड़कों की एक टोली में शामिल होकर परिचर्या-अभियान पर निकले तो उनका सामना हुआ देहात के वीभत्स यथार्थ से। आत्मचरित में वे कहते हैं, "एक सप्ताह के इस अनुभव ने मुझे एक नयी दुनिया दिखायी और मेरे सामने असली भारत—ग्रामीण भारत—की तस्वीर नुमाया की, जहां धरती पर गरीबी विचरती है, लोग भुनगों की तरह मर जाते हैं और व्यवस्था पर तारी है निरक्षरता।"

कटक के अंतिम स्कूली दिनों की तरह कलकत्ता के शुरुआती कालेज जीवन में भी वे साधु-संधान करते रहे। प्रयोजन था—कोई आचार्य या कोई गुरु मिल जाये। वैरागियों आदि से किसी भी तरह मिलने का जुगाड़ कर लेते और कइयों के सादा जीवन और उच्च विचारों से प्रभावित भी होते। अंततः, 1914 के ग्रीष्मावकाश में किसी को कुछ भी बताये बिना वे एक मित्र के साथ घर से निकल गये। दोनों ने उत्तर भारत के कई तीर्थस्थलों, ऐतिहासिक स्थानों और पारंपरिक शिक्षा संस्थानों का भ्रमण किया। वे कई आश्रमों में गये और साधु-संन्यासियों से मिले। उनका मोहभंग तब हुआ जब उन्होंने पाया कि अधिकांश जगहों पर हिंदू धर्म के आधारभूत नियमादि की बजाय अंधविश्वासों और निरर्थक कर्मकांड का बोलबाला है। पावन स्थलों में, हिंदू धर्म के अलंबरदारों को जातिवाद और संप्रदायवाद का धूर्ततापूर्ण अनुसरण करते देखकर सुभाष सन्न रह गये। इसी भ्रमण के दौरान सुभाष की भेंट रामकृष्ण मिशन, वाराणसी में स्वामी ब्रह्मानन्द से हुई, जो उनके परिवार को अच्छी तरह जानते थे। धर्मस्थलों के तथाकथित धर्मप्राणों से साक्षात्कारोपरांत प्राप्त अनुभवों और ब्रह्मानन्द जैसे व्यक्तियों से हुए विचार-विमर्श के बाद ही सुभाष अपनी धार्मिक आस्थाओं

को संतुलित कर सके। उनके माता-पिता एवं अन्य परिजनों ने उनके गृह-त्याग के कुछ सप्ताह बड़ी चिंता में गुजारे थे। आखिरकार, जितने चुपके से वे भागे थे, उतने ही चुपके से एक रोज लौट आये। कुछ ही दिन बाद उन्हें मियादी बुखार ने दबोच लिया। वे अभी बिस्तर से ही लगे हुए थे कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया।

क्रांतिकारियों द्वारा कलकत्ता के विद्यार्थी-वर्ग में अनवरत प्रचार के बावजूद सुभाष के जीवन में अभी तक राजनीति का कोई खास दखल नहीं था। वे अब भी गैर राजनीतिक पद्धति के आध्यात्मिक पुनर्जागरण एवं राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के ही कायल थे। इसकी खास वजह यह थी कि कटक जैसे दूरस्थ नगर में अंग्रेजों की लाटसाहबी कलकत्ता जितनी साफ नहीं थी। ब्रिटिश शासक, कलकत्ता के स्याह-सफेद पर जिनका पूरा दखल था, कदम कदम और हर स्तर पर भारतीयों का मान-मर्दन करते रहते थे। रास्तों, रेलगाड़ियों और बसों वगैरह में वे जातीय हेकड़ी और उच्चता का प्रदर्शन करते हुए घूमते थे। भारतीय समाज के अतिशय सम्मानित और सुसंस्कृत व्यक्तियों को भी वे बख्शते नहीं थे। जातीय विवादों में कानून भी भारतीयों के लिए बेकार था। अतः यह आम धारणा बन चुकी थी कि अंग्रेज केवल भौतिक बल की भाषा समझता है। ऐसे अनुभवों से सुभाष की राजनीतिक चेतना तो विकसित होती रही, मगर उनके राजनीतिक चिंतन को निर्णायक मोड़ देने के लिए यही काफी नहीं था। इसके लिए जरूरी था दुनिया भर का अनुभव। अखबारों से संसार भर की गतिविधि का लेखा-जोखा लेने के बाद वे अपने सारे गृहीत मूल्यों का फिर फिर परीक्षण करते और फिर फिर जायजा लेते। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि किसी भी राष्ट्र का जीवन खंड खंड नहीं बांटा जा सकता। भारतीय अपने जीवन-जतन का एक हिस्सा अपने लिए रखकर दूसरा फिरंगियों को नहीं सौंप सकते। भारत को यदि एक आधुनिक, सभ्य राष्ट्र बनना है, तो भारतीयों को अनिवार्यतया उसकी संपूर्ण मुक्ति के लिए संघर्ष करना होगा। राजनीतिक स्वाधीनता अविभाज्य है और, इससे भी ज्यादा, किसी स्वाधीन राष्ट्र को अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए सैन्यबल भी अवश्य चाहिए।

कालेज जीवन के आगामी दो वर्षों में सुभाष की दार्शनिक और राजनीतिक विचारधारा तीव्रगति से प्रौढ़ हुई और भीतर ही भीतर वे बेहद बदल गये। उनका अधिकांश समय अपने दल के साथियों के साथ ही बीतता था, जिनकी संख्या में ही नहीं, गुणों में भी वृद्धि होती जा रही थी। नतीजा यह कि 1915 में, इंटरमीडियेट की परीक्षा में वे उच्च श्रेणी पाने से रह गये। डिग्री कोर्स के लिए उन्होंने दर्शनशास्त्र का चयन किया, जो एक जमाने से उनका सपना था, और स्वयं को पूरी तरह पढ़ाई में झोंक दिया। दर्शनशास्त्र ने उनकी बौद्धिकता को अनुशासन और मस्तिष्क को समीक्षा-क्षम गढ़न दी। वे मानने लगे कि सही अर्थों में (बंधन) मुक्त व्यक्ति प्रमाण एवं तर्क के बिना कुछ भी स्वीकार नहीं कर सकता।

4

सन् 1916 के प्रारंभ में प्रेजीडेंसी कालेज में घटी दो घटनाओं ने सुभाष के जीवन और जीवनवृत्ति को पूरी तरह बदल दिया। जनवरी में एक दिन एक अंग्रेज प्रोफेसर ई.एफ. ओटेन ने अपनी क्लास के सामने बरामदे में शोर मचा रहे कुछ लड़कों को पीट दिया; और इसके लिए क्षमा मांगने से इनकार करने पर विद्यार्थियों ने कालेज में आम हड़ताल कर दी। प्रेजीडेंसी कालेज में हड़ताल उन दिनों अकल्पनीय थी। सौभाग्य से, अंत में, प्रोफेसर की सद्‌बुद्धि जागी और उसने विद्यार्थियों से सौहार्दपूर्वक मामला निपटा लिया। लेकिन दुर्भाग्य से, प्रिंसिपल ने जुर्माने की शक्ल में विद्यार्थियों को दिया गया दंड वापस नहीं लिया।

अगले महीने अकस्मात एक और आघात हुआ। इसी प्रोफेसर ने फिर फर्स्ट इयर के एक लड़के को पीट दिया। इस बार यह महसूस करके कि विरोध-प्रदर्शन या हड़ताल जैसे वैधानिक प्रतिकार व्यर्थ रहेंगे, कुछ छात्रों ने कानून अपने हाथ में ले लिया और प्रोफेसर ओटेन की जमकर ठुकाई कर दी। सुभाष चन्द्र ने, जो इस कांड के चश्मदीद गवाह थे, लिखा है कि विद्यार्थियों ने बड़ी दिलेरी और दृढ़ता से सामना किया और जैसे को तैसा बनकर निपटे।

सरकार ने कालेज बंद कर दिया और संस्था में फैली अशांति की पड़ताल करने के लिए समिति बैठा दी। गड़बड़ी में प्रिंसिपल भी सरकार को खफा कर बैठा और मुअत्तिल हो गया। लेकिन कार्यभार सौंपते सौंपते भी वह एक कार्रवाई करता गया। उसने सुभाष समेत काली सूची में शामिल सभी विद्यार्थियों को बुलाया और गुर्राकर सुभाष से कहा, "बोस! तुम्हीं कालेज में सबसे उपद्रवी हो। मैं तुम्हें निकाल रहा हूं।" सुभाष बोले, "धन्यवाद!" और घर चले गये। प्रबंध समिति ने प्रिंसिपल के आदेश की पुष्टि कर दी और कालेज से उनका नाम काट दिया। उन्होंने विश्वविद्यालय से प्रार्थना की कि उन्हें अन्य किसी कालेज में दाखिल कर लिया जाये, पर मना कर दिया गया। यों, मानो विश्वविद्यालय भर से वे विद्यावंचित हो गये।

जांच समिति में तीन अंग्रेज थे और दो भारतीय : आशुतोष मुकर्जी और हेरांब चन्द्र मोइत्र। सुभाष ने समिति के समक्ष विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व किया। तर्कपूर्ण और स्पष्टवादी

वक्तव्य देते हुए उन्होंने कहा कि वे प्रोफेसर से हाथापाई को उचित तो नहीं ठहरा सकते, लेकिन उन्हें मालूम है कि छात्र बेहद भड़के हुए थे। और फिर उन्होंने प्रेजीडेंसी कालेज में अंग्रेजों के कुकृत्यों का विस्तृत विवरण दिया। समिति की रिपोर्ट आयी तो विद्यार्थियों के पक्ष में एक भी शब्द नहीं था; और जिक्र था तो सिर्फ सुभाष चन्द्र बोस का, यानी उनके भाग्यद्वार बंद हो गये।

उन दिनों कलकत्ता के राजनीतिक माहौल में गिरावट आ रही थी। बड़े पैमाने पर राजनीतिक गिरफ्तारियां हो रही थीं, जिनमें से कुछ प्रेजीडेंसी कालेज से निष्कासित छात्रों की भी थीं। इसलिए घरवालों को यही ठीक लगा कि सुभाष को कटक वापस भेज दिया जाये, जहां उनके खयाल से वे अपेक्षाकृत सुरक्षित होंगे।

अपने किये पर सुभाष को जरा भी पछतावा नहीं था, बल्कि वे संतुष्ट और खुश थे कि राष्ट्रीय सम्मान के लिए उन्होंने कुछ व्यक्तिगत हानि उठाई है। इस दुखद घटना का महत्व उन्हें तत्काल अनुभव नहीं हुआ। वस्तुतया, कालेज से निष्कासन ने उनका भविष्य तय कर दिया था। उन्होंने साहस से एक संकट का सामना किया था और अपना कर्तव्य निभाया था। इससे उन्हें आत्मविश्वास और पहल करने की शक्ति प्राप्त हुई। इससे भी ज्यादा उन्हें पहली बार सदाचार और त्यागपूर्ण नेतृत्व के ओर-छोर का भी कुछ अनुभव हुआ।

ओटेन-कांड के फलस्वरूप सुभाष में आये तूफानी बदलाव ने उनके भीतर का सब कुछ उलट-पुलट दिया। उन्हें इस बात ने बड़ी सांत्वना दी कि कठिनाई भरी घड़ियों में माता-पिता तथा अन्य परिजनों की पूरी सहानुभूति उनके साथ रही और वे मानते थे कि वह जो कर रहा है, ठीक कर रहा है। अजीब यह था कि उनकी टोली के कुछ सदस्य, जिनके साथ वे काम करते थे, समझते थे कि सुभाष ने अति कर दी है। लेकिन परिणाम भुगतने का संकल्प किये वे अटल रहे। संकोच और आत्मसंशय से उन्होंने बहुत कुछ छुटकारा पा लिया।

निकट भविष्य में पढ़ाई शुरू करने की कोई उम्मीद न रहने पर, वे तीव्र उत्साह से समाज कार्य में जुट गये। उन्हें महसूस हुआ कि भावी प्रशिक्षण की दिशा में यह स्वैच्छिक सेवा बड़ी मूल्यवान है। इसलिए किसी भी खतरे या जोखिम से वे जी न चुराते। उन्होंने युवाओं की शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक उन्नति पर केंद्रित प्रयोगशील आयोजन किये। अस्पृश्यता-निवारण का अभियान छेड़ा। एक रुग्ण संथाल विद्यार्थी, जो अपनी जाति के कारण उपेक्षित था, की सेवा-सुश्रूषा में हाथ बंटाने जब मां प्रभावती भी बेटे के संग हो लीं तो सुभाष का हृदय खुशी से छलक उठा। दोस्तों के साथ वे एक बार फिर भ्रमण पर निकल गये। धार्मिक उत्सवों और पूजा आदि पर सामाजिक कार्यक्रमों के आयोजन में वे

सक्रिय भाग लेते। इस दौरान उन्होंने अपूर्व भाव-निर्मम आत्मविश्लेषण किया। खासकर, उद्वेलनकारी स्वप्नों समेत, अपने अधोमुखी मनोवेगों को जानने और जीतने के लिए। साल भर बाद वे विश्वविद्यालय में अपना भाग्य आजमाने फिर कलकत्ता लौटे। अधिकारियों के निर्णय की प्रतीक्षा करते करते उन्होंने 49वीं बंगाल रेजीमेंट में भरती होने की भी कोशिश की। लेकिन आंखें खराब होने के कारण असफल रहे। अंततः पता चला कि विश्वविद्यालय किसी दूसरे कालेज में दाखिला लेकर पढ़ने की छूट दे देगा। उन्होंने सीधे स्काटिश चर्च कालेज के प्रिंसिपल डा. अर्कहार्ट से भेंट की और उन्हें बताया कि वे दर्शनशास्त्र में आनर्स करना चाहते हैं। अर्कहार्ट को सुभाष जैसे भा गये और वे उन्हें दाखिला देने को राजी हो गये, बशर्ते वे प्रेजीडेंसी कालेज के प्रिंसिपल से औपचारिक अनुमति ले आयें। यह संभव हो सका और जुलाई, 1917 में वे स्काटिश चर्च कालेज में दाखिला पा गये। सुभाष ने पाया कि प्रोफेसर अर्कहार्ट न केवल व्यवहारकुशल और दूसरों का खयाल रखने वाले व्यक्ति हैं, बल्कि दर्शन के अत्यंत योग्य शिक्षक भी हैं।

सन् 1916 में सुभाष एक ऐसे सेवा-निवृत्त सैनिक अफसर से मिले थे, जिसे युद्ध में मैसोपोटामिया भेजा गया और तुर्की में बंदी बना लिया गया था। इस अफसर के कारनामे सुनकर सुभाष सेना में भरती होने को बेहद मचले थे। बाद में सरकार ने इंडिया डिफेंस फोर्स की एक विश्वविद्यालयी इकाई—टेरिटोरियल आर्मी—के गठन को मंजूरी दे दी। इसमें भरती होने के शारीरिक मापदंड सेना जितने कड़े नहीं थे, इसलिए सुभाष इसमें पास हो गये। सैन्य अनुभव ने उनके जीवन को एक नया आयाम दिया। एक उज्जड स्काट, कैप्टन ग्रे, युवा रंगरूटों का प्रशिक्षक था। शुरू शुरू में फोर्ट विलियम के सेनाधिकारियों ने समझा कि सैनिक के रूप में बंगाली छोकरे एकदम विफल रहेंगे, लेकिन चार महीने के शिविर-जीवन और तीन सप्ताह के मसकट-अभ्यास[1] के बाद यही छोकरे अपने प्रशिक्षण को भी मात देने लगे। सुभाष को इस प्रशिक्षण के बाद एक नयी शक्ति और आत्मविश्वास का एहसास हुआ। अपनी कंपनी के साथ कवायद करते, फोर्ट विलियम सेनालय में प्रविष्ट होते समय उन्हें लगा, मानो वे सब एक ऐसी जगह पर कब्जा कर रहे हैं, जो सदा से उनकी है लेकिन अन्यायपूर्वक छीन ली गयी है।

कालेज का तीसरा साल सैन्यकर्म में बीत गया । चौथे साल सुभाष ने अपना सर्वस्व पढ़ाई में लगा दिया और दर्शनशास्त्र लेकर 1919 में प्रथम श्रेणी में आनर्स पास किया। योग्यता सूची में उनका स्थान द्वितीय था। लेकिन तब तक दर्शनशास्त्र से भी उनका मोहभंग

---

1. सेना के शुरुआती दौर में, राइफल के आविष्कार से पहले, अभ्यास और गोलीचालन के लिए रंगरूटों के पास मसकट नामक छोटी बंदूकें होती थीं

हो चुका था और अब वे प्रयोगात्मक मनोविज्ञान की तरफ झुकने लगे। अतः एम.ए. उन्होंने इसी विषय में करने की ठानी।

एक शाम पिता ने उन्हें अपने कमरे में बुलाया, जहां उनके बड़े भाई शरत्‌चन्द्र भी मौजूद थे। जानकीनाथ ने सुभाष से पूछा कि क्या वे इंग्लैंड जाकर इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा देना चाहेंगे। फैसला करने के लिए उन्हें सिर्फ चौबीस घंटों की मोहलत दी। सुभाष भौंचक थे। लेकिन कुछ घंटों की ऊहापोह के बाद ही उन्होंने तय किया—यही सही। परिस्थितियों की प्रबलता ने एक बार फिर उनकी योजनाएं उलट-पुलट दीं। उन्होंने सपने में भी आई.सी.एस. पास करके अंग्रेज सरकार की नौकरी करने की नहीं सोची थी। पर अब यह भविष्य का मसला था। तुरत-फुरत उनका पारपत्र बनवाया गया और किसी तरह हफ्ते भर बाद कलकत्ता से इंग्लैंड जानेवाले एक समुद्री जहाज पर एक बर्थ जुटायी गयी।

सिर्फ अपने भाग्य भरोसे ही सुभाष ने यह निर्णय किया था। उन्होंने अपने दल के मित्रों से भी विचार-विमर्श नहीं किया था; पर यह तो उन्होंने इंडियन डिफेंस फोर्स में भरती होते समय भी नहीं किया था, क्योंकि वे लोग इसे उचित नहीं मानते थे। विलायत जाने का फैसला भी उनका अपना था, और जो इन रिश्तों को खत्म करनेवाला भी था। इसका मतलब था—अतीत से नाता तोड़ना और बढ़ते जाना।

उनका जहाज 15 सितंबर, 1919 को इंग्लैंड की ओर रवाना हुआ था।

5

इंग्लैंड रवाना होते वक्त सुभाष के पास इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा की तैयारी के लिए सिर्फ आठ महीने थे। जिस पर, उम्र को ध्यान में रखते हुए यही उनका पहला और आखिरी मौका था। कैंब्रिज के किसी अच्छे कालेज में दाखिला मिलना भी बहुत अनिश्चित था; क्योंकि उनके इंग्लैंड पहुंचने से पहले ही सत्रारंभ हो जाना था, और इंडिया हाउस में भारतीय विद्यार्थियों के सलाहकार से मिलकर वे निराश भी हुए; पर किस्मत आजमाने खुद सीधे कैंब्रिज जा धमके। प्रवेशार्थियों का योग्यताकलन करनेवाले किट्स विलियम हाल के सेंसर ने उनकी समस्याओं के प्रति खासी सहृदयता दिखायी; उन्हें सीधे दाखिल कर लिया और डिग्री परीक्षा जून, 1921 में देने की छूट भी दे दी। लेकिन सिविल सर्विस परीक्षा निकट होने के कारण अपना सारा समय वे उसी की तैयारी में लगाने लगे। मानसिक एवं नैतिक विज्ञान ट्राइपास (आनर्स) के लिए उन्होंने लेक्चर अटेंड करने के अलावा कुछ नहीं किया। पाठ्येतर गतिविधियों में वे इंडियन मजलिस और यूनियन सोसायटी के कार्यक्रमों में भाग लेते।

इंग्लैंड में विद्यार्थी वर्ग को प्राप्त स्वतंत्रता, सम्मान और प्रतिष्ठा से सुभाष बहुत प्रभावित हुए। उन्हें लगा, विद्यार्थियों के चरित्र पर इसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। भारत में विद्यार्थियों की स्थिति इससे एकदम उलट थी, जहां वे संदिग्ध, दयनीय और उपेक्षित थे; या फिर क्रांतिकारी समझकर पुलिस उनकी घात में रहती थी। यूनियन सोसायटी के वाद-विवाद आयोजनों में सांसदों अथवा मंत्रियों की मौजूदगी में भी विद्यार्थी बिल्कुल निर्भीकता और निष्पक्षता से अपने विचार व्यक्त करते थे। अंग्रेजों के कुछ आम गुण थे जिनकी सुभाष सराहना करते थे और जिनकी बाबत भारत में अपने दोस्तों को भी लिखा करते थे। सर्वप्रथम, वे कामकाज में वक्त के सख्त पाबंद थे—घड़ी की ही तरह स्वचालित व सुनिश्चित। दूसरे, वे पूर्ण आशावादी थे और जीवन के बेहतर पक्ष को महत्व देते थे। अर्थात उन अन्य भारतीयों की तरह नहीं थे, जो दुःखों को सीने पर ढोये चलते थे। तीसरे, वे दृढ़ सहजबुद्धि के धनी थे और स्थितियों को उनके असल रूप में परखने में कुशल भी थे। अंत में, राष्ट्रहित को वे हर स्थिति में सर्वोपरि मानकर चलते थे और अपने देश से कभी छल नहीं करते थे।

जिन दिनों सुभाष कैंब्रिज में थे, ब्रिटिश और भारतीय विद्यार्थियों के संबंध कुल मिलाकर अच्छे ही थे। लेकिन उसमें से सच्ची और दीर्घजीवी मित्रता के अंकुर नहीं फूट सके। औसत अंग्रेज के मन में उच्चता की भावना थी और भारतीय जनसाधारण के हृदय में युद्ध के बाद की घटनाएं, विशेषकर जालियांवाला बाग के नरसंहार की स्मृतियां कसकती रहती थीं। इसलिए सुभाष और उनके मित्रों का यह मान लेना स्वाभाविक था कि कुछ विरल अपवादों को छोड़कर अंग्रेजों और भारतीयों में सच्ची दोस्ती का कोई आधार ही नहीं है। राजनीतिक दलों में से सिर्फ लेबर पार्टी के लोग भारतीय आकांक्षाओं के प्रति सहानुभूति अभिव्यक्त करते थे। लेकिन राजनीतिक सौमनस्य बरतरफ, सुभाष को साफ लगता कि उनके अंग्रेज दोस्त अनुदार दृष्टिकोण रखते हैं। जातीय आधार पर भारतीयों के प्रति अन्याय का एक ज्वलंत उदाहरण भी सामने आया। भारतीय विद्यार्थियों ने एक नोटिस पढ़कर यूनीवर्सिटी अफिसर्स ट्रेनिंग कोर के लिए आवेदन कर डाले। मामला इंडिया आफिस और वार आफिस के बीच झूलता रहा, दोनों एक दूसरे पर भारतीयों की भरती में ऐतराज करने का आरोप मढ़ते रहे। स्टेट विभाग में भारतीय मामलों के अंडर-सेक्रेटरी के समक्ष भारतीय छात्रों का पक्ष रखने में सुभाष ने प्रमुख भूमिका निभायी। मूल समस्या यह थी कि आफिसर्स ट्रेनिंग कोर के उत्तीर्ण सदस्य ब्रिटिश सेना में कमीशन पाने के हकदार हो जाते थे। भारतीय छात्रों ने आश्वासन दिया कि वे केवल सैन्य प्रशिक्षण में रुचि रखते हैं और सेना में कमीशन पाने का दावा कभी नहीं करेंगे, लेकिन अधिकारियों ने उनके आवेदन स्वीकार नहीं किये।

इंग्लैंड में साथियों को सुभाष की जीवन-शैली शुद्धतावादी लगती। दुहरे पाठ्यकार्य, सिविल सर्विस परीक्षा के साथ साथ ट्राइपास की तैयारी के कारण उन्हें फुरसत नहीं मिलती थी। जिस पर उनका मानसिक गठन उन मामूली और मौज-मस्ती जगानेवाले आकर्षणों से विमुख था, जो जीवनधारा को अवरुद्ध करते थे और जिन्होंने अंततः विदेश गये अनेक भारतीय विद्यार्थियों का भविष्य लील लिया था। कहते हैं, सुभाष की मौजूदगी में बेलगाम से बेलगाम छात्र को लगाम लग जाती थी। भारत में वे मित्रों-परिजनों को चिट्ठी-पत्री भेजते रहते थे, जिनमें अपने अनुभवों और इंग्लैंड के जीवन और परिस्थितियों के बारे में सूचनाएं देते।

जब भी कोई विख्यात भारतीय इंग्लैंड आता, सुभाष बड़ी उमंग से विश्वविद्यालयों या भारतीय परिषद में उसके भाषण आयोजित करते। जब कोई वक्ता श्रेष्ठता का परिचय देता तो वे गर्व से भर उठते। उदाहरणतया, भारत में अपने एक मित्र को लिखे पत्र में, ऐसे ही गर्व से भरकर उन्होंने सरोजिनी नायडू के एक भाषण का जिक्र किया था—कि किस प्रकार वे उनकी वाग्मिता, उत्प्रेरणा, बौद्धिकता, व्यावहारिकता और पश्चिम में

अपनी विशिष्टता स्थापित करनेवाली एक भारतीय महिला की क्षमता से अभिभूत हो उठे थे।

सिविल सर्विस के लिए कई विषय पढ़ने होते थे, ताकि देश का प्रशासन चलाते समय व्यक्ति के पास पर्याप्त मानसिक तैयारी हो। इनमें राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, ब्रिटिश इतिहास और यूरोप के आधुनिक इतिहास सहित नौ मुख्य विषय थे। इंग्लैंड में, सिविल सर्विस की तैयारी के दौरान, आधुनिक यूरोपीय इतिहास का गहराई से अध्ययन करने के बाद ही सुभाष यूरोपीय महाद्वीप की स्पष्ट राजनीति से अवगत हो सके। उन्हें लगा कि भारतीयों को एक अरसे से यूरोप को ब्रिटिश नजर से जानने-पहचानने की शिक्षा दी जाती रही है। महाद्वीप के इतिहास को मूल स्रोत से पढ़ने के बाद सुभाष चन्द्र विश्व-राजनीति की अंतर्धाराओं की समीचीन और नयी विवेचना कर सके। भावी जीवन में यह क्षमता उनके लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

इंडियन सिविल सर्विस की प्रतियोगी परीक्षा जुलाई, 1920 के शुरू में प्रारंभ हुई और महीना भर चली। सुभाष ने घर पर चिट्ठी लिखी कि उन्हें पास होने की कोई उम्मीद नहीं है, इसलिए वे अगले साल होनेवाली ट्राइपास परीक्षा की तैयारी जारी रखे हुए हैं। लेकिन मध्य सितंबर में जब एक रोज रात गये, एक दोस्त ने तार देकर सफलता के लिए उन्हें बधाई दी तो वे चकरा उठे। अगली सुबह उन्होंने अखबार में इंडियन सिविल सिर्विस के सफल प्रत्याशियों की सूची में अपना नाम पाया। योग्यता सूची में उनका स्थान चौथा था। मार्कशीट से पता चला कि अंग्रेजी लेखन में वे प्रथम हैं। यों, तथाकथित 'स्वर्गजात' नौकरी जो कि उन दिनों अनेक महत्वाकांक्षी भारतीय युवकों का चरम स्वप्न और उनके घरवालों के दिलों की धड़कन होती थी, सुभाष की मुट्ठी में आ गई।

6

विडंबना यह कि सिविल सर्विस परीक्षा की सफलता ने सुभाष को जीवन के गंभीरतम संकट के रू-ब-रू खड़ा कर दिया। उन्होंने महसूस किया कि वे ऐसी पहली सच्ची परीक्षा का सामना कर रहे हैं जिसमें यह तय होगा कि वे अपने लिए निर्धारित आदर्शों और सिद्धांतों पर अटल रहेंगे या स्वर्गोत्पन्न नौकरी के लोभ के समक्ष झुक जायेंगे। अपने दूसरे नंबर के बड़े भाई शरत्चन्द्र से उन्होंने लंबा पत्राचार किया, जिसमें अपना दिल उघेड़कर रखते हुए सद्परामर्श मांगा। आई.सी.एस. से इस्तीफा देने का फैसला करने के बाद उन्होंने देशबन्धु चित्तरंजन दास को भी पत्र लिखा, निवेदन किया कि उनके मार्गदर्शन में वे राष्ट्रीय लक्ष्यसिद्धि में अपनी सेवाएं अर्पित करना चाहते हैं।

भाई को लिखे उनके पत्रों से पता चलता है कि सितंबर, 1920 से मार्च, 1921 तक, अंतहीन कष्टों और अभावों में उतार देनेवाले जीवन के सर्वोच्च आदर्शों तथा सिविल सर्विस की आरामदेह नौकरी को स्वीकारने-अस्वीकारने की कशमकश के दौरान, उनके मन पर क्या बीत रही थी। लंबे खिंचे उन सात महीनों में पारिवारिक दायित्वों और रुपये-पैसे के महत्व समेत वे इस मामले के हर पहलू पर विचार करते और स्वयं को तौलते रहे। वे जानते थे कि घर के अधिसंख्य लोग उनके इस्तीफे से खुश नहीं होंगे। उनके पिता जानकीनाथ समझते थे कि भारत को करीब दस साल के दौरान होमरूल अथवा स्वशासन मिल जाने की पूरी संभावना है। अतएव उनका खयाल था कि नयी व्यवस्था में किसी स्वाभिमानी भारतीय सिविल सर्वेंट के लिए जीवन असहनीय हो उठने जैसी बात नहीं होनी चाहिए थी। सुभाष का जवाब था कि भारतीयों को दस साल में, या इससे भी जल्दी स्वशासन तभी मिल सकेगा जब वे इसकी कीमत चुकाने को तैयार होंगे। उनके अनुसार, यह कीमत थी सेवा, त्याग और कष्ट। इसलिए, इन परिस्थितियों में, यदि हमारी निष्ठा विदेशी नौकरशाही में बनी रही और हम चमक-दमक की एवज में बिक गये तो भारत की आजादी नजदीक आने की बजाय गुम हो जायेगी। अतः उनके लिए आधारभूत प्रश्न था कि क्या स्वाधीनता की राह पर चलना है, जिसका मतलब है सेवा, संघर्ष और त्याग; या फिर भारत को गुलाम रखनेवाली विदेशी सत्ता के समक्ष समर्पण करना है?

सुभाष को मालूम था कि घर के ज्यादातर लोग उन्हें झक्की समझते हैं, इसलिए जानते

थे कि सिविल सर्विस छोड़ देने पर घर में कैसा बावेला मचेगा। लेकिन उन्हें घर या समाज के विरोध की कोई खास चिंता नहीं थी। विश्वास था कि भैया शरत् उनके किसी भी फैसले का पक्ष लेंगे, जैसा कि वे प्रत्येक संकट वेला में करते आये थे, हालांकि "हमारे रिश्तेदारों में मुश्किल से ही कोई मेरी सनकभरी योजनाएं पसंद करेगा" जैसी वस्तुस्थिति का भी उन्हें अहसास था। जिस बात की उन्हें गहरी चिंता थी वह यह कि उनके इस्तीफे से बुजुर्ग और बीमार माता-पिता को बड़ा सदमा पहुंचनेवाला था। शरत् पर ही यह निर्भर था कि वे उन्हें कायल करें और कहें कि देशहित का तकाजा है कि उनका बेटा अपनी नन्हीं-सी बलिदानी भेंट लेकर स्वतंत्रता की वेदी की ओर बढ़े, और यह भी कि यह बलि समझ-बूझकर तथा निश्चयपूर्वक दी जानी चाहिए। भैया को उन्होंने लिखा कि विदेश में उनकी पढ़ाई पर जो पैसा खर्च हुआ है, उसे भारतमाता के चरणों में अर्पित उपहार मान लिया जाये और उसके कभी किसी भी रूप में वापस मिलने की अपेक्षा न की जाये। औपचारिक त्यागपत्र भेजने से तीन सप्ताह पूर्व, अप्रैल 1921 में, भैया को पत्र लिखकर सुभाष ने खुलासा किया कि अपने भीतर छिड़े सिद्धांत और स्वार्थ के द्वंद्व में वे कोई समझौता या सामंजस्य क्यों नहीं स्थापित कर सके। उन्होंने कहा, "हम, जो एक ओर स्वामी विवेकानन्द और दूसरी ओर अरविन्द घोष के प्रभावछत्र में बड़े हुए हैं, भाग्य या दुर्भाग्य से ऐसी मानसिकता बना चुके हैं कि ध्रुवों जैसे भिन्न दृष्टिकोणों पर लदा कोई समझौता हमें स्वीकार्य नहीं होता।" उन्होंने खेद प्रकट किया कि उनके कारण उनके सुसमंजित परिवार में मतभेद पैदा हुए हैं। वजह यह थी कि कुछ ऐसे आदर्श उन पर हावी थे जो बदकिस्मती से, दूसरों को मंजूर नहीं थे।

22 अप्रैल, 1921 को, कैंब्रिज से, सुभाष चन्द्र बोस ने सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, ई.एस. मांटेग्यू को लिखा कि अगस्त, 1920 की आम प्रतियोगी परीक्षा के द्वारा चुने गये इंडियन सिविल सर्विस के प्रोबेशनरों (परिवीक्षाधीन अफसरों) की सूची से वे अपना नाम वापस ले रहे हैं।

आई.सी.एस. छोड़ने का इरादा लगभग पक्का कर लेने के बाद, फरवरी और मार्च, 1921 में, उन्होंने देशबन्धु चित्तरंजन दास को दो ऐतिहासिक पत्र लिखे। 1916 के ओटेन कांड के बाद देशबन्धु से उनकी एक संक्षिप्त-सी मुलाकात ही हुई थी; और अब उन्हें "बंगाल में राष्ट्रसेवा-पर्व के प्रमुख आचार्य" के रूप में श्रद्धा से प्रणाम करते हुए उन्होंने राष्ट्रहितार्थ अपनी सेवाएं निःसंकोच उनकी इच्छा पर छोड़ दीं। इंडियन नेशनल कांग्रेस की व्यवस्था के बारे में उन्होंने दो टूक बातें कहीं। सर्वप्रथम, कांग्रेस का अपना कोई ठीया-ठिकाना होना चाहिए। दूसरे, कांग्रेस में विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं पर अनुसंधान करनेवाले शोधार्थियों का एक समूह होना चाहिए। कांग्रेस को मुद्रा एवं विनिमय जैसे मामलों समेत अपनी नीतियां

स्पष्ट करनी चाहिए। तीसरे, कांग्रेस यह तय करे कि स्वाधीन भारत में रजवाड़ों-रियासतों के प्रति उसका रुख क्या होगा। चौथे, पुरुषों और स्त्रियों के सार्वभौमिक मताधिकार के बारे में कांग्रेस अपनी स्थिति एकदम साफ करे। पांचवें, कांग्रेस घोषणा करे, दलित वर्गों के उत्थान के लिए उसकी योजना क्या है। अंत में, गिनाई गयी तमाम बातों की पूर्ति के लिए स्थायी अमले की व्यवस्था करनी चाहिए, जो कि तथ्यों का आकलन और परिरक्षण करे और जिसके आधार पर विभिन्न समस्याओं के प्रति नीतियां बनाई जायें। सुभाष चाहते थे कि कांग्रेस दल में गुप्तचर-विभाग और मतप्रचार-विभाग भी खोले। उन्होंने यह भी कहा कि राष्ट्रीय जीवन के हर पहलू पर प्रत्येक भारतीय भाषा में पुस्तिकाएं प्रकाशित होनी चाहिए।

सुभाष ने अपनी सेवाओं की बाबत देशबन्धु को तीन क्षेत्र सुझाये : पहला, देशबन्धु द्वारा संचालित नेशनल कालेज में अध्यापन; दूसरे, पत्रकारिता—खासकर देशबन्धु के अखबार 'स्वराज' के अंग्रेजी संस्करण में; और तीसरे, कांग्रेस में शोधकार्य। देशबन्धु को अंत में उन्होंने लिखा कि भारत के भावी संविधान के प्रति कांग्रेस की सुनिश्चित कार्यनीति होनी चाहिए। इसलिए उन्होंने जोर देकर कहा कि स्वराज की धारणा के अनुरूप संविधान लेखन शुरू कर दिया जाना चाहिए।

आई.सी.एस. से सुभाष के इस्तीफे ने इंग्लैंड के भारतीय समाज में सनसनी फैली दी। जल्द ही यह खबर भारत भी आ पहुंची और देश भर में आवेशपूर्ण चर्चा का विषय बन गयी। सुभाष इस सनसनी और वाहवाही दोनों से बचना चाहते थे—उनके लिए यह आडंबरहीन आत्मनिषेध का एक प्रयास था। भाई शरत् से भी उन्होंने यही कहा, "आपने अपने पत्रों में मेरे प्रति बहुतेरी अच्छी अच्छी बातें कही हैं, जिनमें से, मुझे मालूम है कि मैं बहुत कम का पात्र हूं... मुझे इतना ही कहना है—मुझे आप पर गर्व है।" आगे उन्होंने जोड़ा, "मैं जानता हूं, मैंने कितनों का दिल तोड़ा है, कितने बुजुर्गों की अवज्ञा की है, लेकिन जोखिमभरी इस प्रतिज्ञा-वेला में मेरी यही प्रार्थना है—यह सब हमारे प्यारे देश की भलाई में समा जाये।" अंततः, जब मां ने चिट्ठी लिखी कि दूसरे कुछ भी सोचें, "वे महात्मा गांधी के आदर्शों को श्रेयस्कर समझती हैं," तो सुभाष को बड़ी सांत्वना मिली।

सांचा ढल गया। सुभाष चन्द्र बोस ने स्वार्थसिद्धि के लिए किसी भी तरह के समझौते के विरुद्ध अटल मोर्चा लगा लिया और आदर्शवाद एवं नैतिक संघर्ष के मार्ग पर बढ़ चले। उन्होंने फिर कभी मुड़कर नहीं देखा।

7

मानसिक एवं नैतिक विज्ञान में ट्राइपास परीक्षा देने के तुरंत बाद, जून, 1921 में, सुभाष भारत लौट आये और राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े, जो उन दिनों पूरे जोर पर था। 16 जुलाई को वे बंबई पहुंचे और उसी दिन तीसरे पहर महात्मा गांधी से मिलने चले गये। आंदोलन के सर्वोच्च नेता से वे उनके सक्रिय कार्यक्रम की स्पष्ट जानकारी चाहते थे। इधर कुछ वर्षों में सुभाष ने विश्व के अन्य भागों में चले राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों का गंभीर अध्ययन किया था और वे अपने निष्कर्षों और विचारों की रोशनी में गांधीजी के इरादे और उद्देश्य को समझना चाहते थे।

गांधी जी से मिलते ही सबसे पहले उन्होंने अपने विदेशी परिधान के प्रति क्षमा मांगी। गांधी जी ने सस्नेह दुलारा और दोनों में दिलचस्प बातचीत चल निकली। सुभाष की रुचि उनसे यह समझने में थी कि उन्होंने संघर्ष के क्या क्या क्रमिक चरण निर्धारित किये हैं, जिनसे देश सीढ़ी दर सीढ़ी अनिच्छुक अंग्रेजों से सत्ता प्राप्त करने मंजिल तक पहुंच सकेगा। उन्होंने सवालों की झड़ी लगा दी जिनका जवाब गांधी जी अपने स्वाभवगत धैर्य से देते रहे। सवाल प्रत्येक विषय से जुड़े थे—कर न देने की मुहिम, सविनय अवज्ञा, विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, खादी का प्रचार, साल भर में स्वराज दिलाने का उनका वादा, सरकारी फरमानों की अवहेलना द्वारा जनसाधारण का 'जेल भरो' कार्यक्रम, आदि आदि। गांधी जी के कुछ जवाब तो उन्हें संतुष्ट कर सके, खासकर कर न देने से जुड़ी बातों के जवाब, लेकिन बाकी नहीं। सुभाष को लगा, या तो गांधी जी वक्त से पहले अपनी तुरुप का आभास नहीं देना [illegible]

राजशक्ति अधिगृहीत की जा सकती है।

गांधी जी से हुई पहली भेंट से निराश होकर वे देशबन्धु चित्तरंजन दास से शीघ्रातिशीघ्र मिलने कलकत्ता चल दिये। स्वयं गांधी जी ने भी उन्हें यही राय दी थी। कलकत्ता पहुंचे तो देशबन्धु दौरे पर गये हुए थे, फलस्वरूप उन्हें प्रतीक्षा करनी पड़ी। पर दोनों की पहली मुलाकात निर्णायक रही। सुभाष को तुरंत यह महसूस हुआ कि यह शख्स जानता है कि वह क्या करने जा रहा है, उस लक्ष्यसिद्धि के लिए वह अपना सर्वस्व होम कर देने को तत्पर है और इसी कारण दूसरों से भी अपना सभी कुछ झोंक देने की मांग कर सकता

है। सुभाष को विश्वास हो गया कि उन्होंने गुरु प्राप्त कर लिया है, जिसका अनुसरण वे कर सकेंगे। देशबन्धु ने अपने इस युवा सहायक को खुली बांहों से अपनाया और अनेक जिम्मेदारियां सौंप दीं। देश उन दिनों राष्ट्र प्रेम के ज्वार से उमड़ रहा था और लोगों में अभूतपूर्व उत्साह था। सर्वत्र 'तिहरा बहिष्कार' था—कांग्रेसियों ने विधानमंडलों में जाना छोड़ दिया था, वकील अदालतों से निकल आये थे और विद्यार्थी शिक्षा-संस्थान छोड़कर राष्ट्रीय आंदोलन में कूद पड़े थे। देशबन्धु ने सुभाष को बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी तथा राष्ट्रीय सेवा दल का प्रचार-प्रधान बना दिया। साथ ही उन्हें नये खुले नेशनल कालेज का प्रिंसिपल भी नियुक्त किया गया। जिस योग्यता और लगन से सुभाष ने अपने सारे दायित्व निभाये, उससे उन्हें सभी की प्रशंसा मिली।

जनांदोलन के इसी माहौल में ब्रिटिश सरकार ने 1919 में सुझाये और, बाद में, सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया, मांटेग्यू, तथा वाइसराय चैम्सफोर्ड द्वारा एक अधिनियम में पिरो दिये गये सांविधानिक संशोधन लागू करने की बुनियाद रखने का प्रयास शुरू कर दिया। ब्रिटिश राजसिंहासन के वारिस, प्रिंस आफ वेल्स, के नवंबर, 1921 में, भारत दौरे का ऐलान किया गया। कांग्रेस ने युवराज के बंबई उतरने के दिन संपूर्ण 'हड़ताल' का आह्वान कर डाला। कलकत्ता में भी, भारत के अन्य नगरों की भांति अवसरानुरूप प्रतिक्रिया हुई और लगा कि सुभाष चन्द्र बोस के तत्वावधान में कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने ही शहर को संभाल लिया है। सरकार ने कांग्रेस पार्टी को ही गैरकानूनी घोषित कर दिया, जिसने आग में घी का काम किया। प्रदेश कांग्रेस समिति ने सारे अधिकार अपने अध्यक्ष चित्तरंजन दास को सौंप दिये; और अध्यक्ष ने आंदोलन का मुखिया सुभाष चन्द्र को बना दिया। आंदोलन में उस समय बेहद तेजी आ गई जब सरकारी घोषणा को राहों में चुनौती देनेवाली कुछ स्वयंसेविकाओं के जत्थे के साथ देशबन्धु की अर्धांगिनी वासंती देवी गिरफ्तार कर ली गयीं। इससे गिरफ्तारी देनेवाले युवक-युवतियों का ज्वार उमड़ा और जेलों में बाढ़ आ गयी। दिसंबर, 1921 के दूसरे हफ्ते में, देशबन्धु तथा अन्य नेताओं के साथ साथ सुभाष चन्द्र भी कैद कर लिये गये। बाद में उन्हें छह महीने की सजा हुई। देशबन्धु चित्तरंजन दास के साथ कारावास में कटे आठ महीने उनके जीवन का सर्वाधिक भावप्रेरक और शिक्षाप्रद अनुभव बन गया।

कलकत्ता की अलीपुर सेंट्रल जेल में, देशबन्धु के निकट रहकर साथी बंदी सुभाष ने अपने गुरु के नेतृत्वकारी गुणों का गहन विश्लेषण किया और यह जानने की कोशिश की कि लोगों पर आम तथा अनुगामियों पर खास तौर पर छाये उनके आकर्षण का रहस्य क्या है। वक्त आने पर सुभाष के लिए यह अनुभव बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ—सर्वप्रथम तब, जब बंगाल के नेतृत्व का दायित्व उनके कंधों पर आया; और दूसरे तब, जब

अखिल भारतीय राजनीति में उन्हें नेतृत्व का विकल्प जुटाने को कहा गया, और अंत में उस समय, जबकि उन्होंने यूरोप तथा पूर्वी एशिया में आजाद हिंद आंदोलन की बागडोर संभाली।

सुभाष के अनुसार, लोकनेता के रूप में देशबन्धु की सफलता का रहस्य मोटे तौर पर इन बातों पर निर्भर था—सर्वप्रथम, देशबन्धु अपने अनुगामियों को उनके रुतबे, गुणों या अवगुणों का खयाल किये बिना अपने समूचे हृदय से स्नेह करते थे। सबसे पहले वे उनके हृदय से आग्रह करते थे, जिससे हर वर्ग के लोग उनके प्रति अदम्य आकर्षण महसूस करते थे। देशबन्धु के अनुसार, अन्य हर चीज के मुकाबले दिल की बात ज्यादा कारगर होती है। दूसरे, देशबन्धु जरूरतमंद या परेशान साथियों की मदद करने के लिए किसी भी सीमा तक जा सकते थे; किसी के काम आते वक्त वे उनकी पार्टी या पिछली बातें भूल जाते थे। बदले में उनके अनुयायी तथा देशवासी उनकी इच्छा या आदेश पूरा करने के लिए हर संभव काम करने, कष्ट झेलने या त्याग करने को तत्पर रहते थे। उनके समर्थकों की ऐसी चरम निष्ठा देखकर उनके राजनीतिक विरोधियों को दर्द और जलन होती थी। तीसरे, उनमें उत्कृष्ट संगठन-क्षमता थी, जिससे सुभाष अत्यंत प्रभावित थे। उन्होंने मानवीय क्षमताओं से भरपूर एक ऐसा संगठन स्थापित किया था, जो तमाम विपक्षी शक्तियों को झेल सके—चाहे वे अपने देश के लोग हों या फिर ब्रिटिश सरकार हो। लेकिन पार्टी-संगठन में अभिव्यक्ति और वाद-विवाद की पूरी छूट थी, जो कि सराहनीय संयम, अनुशासन और कार्यक्रमिक एकता से स्वतः नियंत्रित थी। चौथे, देशबन्धु युवाओं के अनन्य अनुरागी थे और उनके कष्टों, आशाओं और आकांक्षाओं से उनका पूरा तादात्म्य था।

आठ महीनों के बंदी-काल में सुभाष ने सामर्थ्य-भर स्नेह और श्रद्धा से देशबन्धु की देखभाल और सेवा-टहल की। वे न सिर्फ उनके छोटे से छोटे भौतिक सुख का ध्यान रखते, बल्कि उनका भोजन भी बनाते। ठिठोली की जाती—देशबन्धु कितने भाग्यशाली हैं कि 'आई.सी.एस. बावर्ची' उनकी ताबेदारी में है। इस निकटता ने सुभाष को देशबन्धु के व्यक्ति पक्ष को समझने का अनुपम अवसर दिया—एक ऐसा व्यक्ति जो आकंठ राजनीति में डूबा हुआ था, लेकिन ओछापन जिसमें नाममात्र को भी नहीं था। गुरु से सीखी-सुनी एक उक्ति में उनका हमेशा विश्वास बना रहा और जीवन के हर उतार-चढ़ाव में वे इस पर अमल करते रहे कि जिंदगी राजनीति से बड़ी है।

देशबन्धु के साहचर्य की बदौलत, भारत लौटने के बाद सुभाष जल्दी ही, भारत के कुछ विशिष्ट नेताओं के संपर्क में आये। सितंबर, 1921 में, कलकत्ता में देशबन्धु के निवास स्थान पर कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई थी। तभी सुभाष को उन तीन बौद्धिक महारथियों से परिचित होने का सुयोग मिला, जो देशबन्धु के साथ साथ महात्मा गांधी के राष्ट्रीय

अभियान के परम समर्थक थे—पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय और मौलाना मुहम्मद अली।

भारत बनाम असहयोग आंदोलन की विचारधारा की बाबत एक रोचक और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अनुभव, जिसका जिक्र यहां ठीक ही होगा, सुभाष को भारत पहुंचने से पहले ही हो चुका था। भारत के राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उसी जलपोत में सवार थे। उनसे बातचीत के बाद सुभाष ने महसूस किया कि आम धारणा के विपरीत, कवींद्र मूलतया असहयोग के विरोधी नहीं हैं, पर उनकी एक महत्वपूर्ण सलाह थी। वे चाहते यह थे कि कांग्रेस और ज्यादा निर्माणशील गतिविधियां अपनाये, ताकि धीरे धीरे जनसधारण के सहकार से, सरकारी व्यवस्था के बीच एक और राजव्यवस्था पनप सके। रवि बाबू का सुझाव आयरलैंड के शिन फेन[1] आंदोलन के रचनात्मक पक्ष से एकदम मिलता-जुलता था, जिसके बारे में सुभाष ने पढ़ा था और जिससे वे पूरी तरह सहमत थे। सुभाष को उनका एकता-दर्शन तथा विश्व-संस्कृति का संश्लेषणात्मक दृष्टिकोण भी स्वीकार्य था; और वे उनकी यह बात भी मानते थे कि भारतीय स्वाधीनता संग्राम को पश्चिमी विज्ञान, संस्कृति और सभ्यता आदि से बिदकना नहीं चाहिए जैसा कि कुछ असहयोगव्रती आवाज उठाते रहते थे।

1 आयरलैंड में चलनेवाले 20वीं सदी के प्रारंभ के क्रांतिकारी आंदोलन 'शिन फेन' में राजनीतिक व आर्थिक स्वाधीनता के अलावा आयरिश संस्कृति में प्राण फूंकने के लिए भी उद्यम किये गये थे

8

देश की राजनीतिक स्थिति 1921 के मध्य से अधिकाधिक तनावग्रस्त होने लगी थी, और साल बीतते बीतते आंधी उठ खड़ी हुई। असहयोग आंदोलन का झंझा-स्रोत था कलकत्ता। असहयोग और सविनय अवज्ञा को विस्तार-बल देनेवाले मोर्चे थे जिला मिदनापुर, बंगाल का कर-मत-दो अभियान, पंजाब का अकाली आंदोलन और मालाबार का मोपला विद्रोह। असहयोग तथा खिलाफत आंदोलन की सांठगांठ ने ब्रिटिश सरकार को बड़ी उलझन में डाल दिया। हालांकि साल भर में, यानी 31 दिसंबर, 1921 तक स्वराज पाने का संकल्प पूरा होता कतई नजर नहीं आ रहा था, मगर राष्ट्रवादी शक्तियां अपनी क्षमता के प्रति इतनी आश्वस्त थीं कि महात्मा गांधी ने नये वाइसराय लार्ड रीडिंग को अंतिम चेतावनी दे डाली कि यदि शासकों ने अब भी अपना रुख न बदला तो वे जिहाद का आखिरी मोर्चा खोल देंगे—लोग 'कर' नहीं देंगे। बंगाल समेत देश भर में ऐसे प्रबंध कर लिये गये कि बिगुल बजते ही मुहिम छिड़ जाये। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियां भी भारतीय उद्देश्य के अनुरूप थीं, देशबन्धु दास सुभाष चन्द्र सहित अपने अंतरंग अनुयायियों के साथ दिसंबर, 1921 के प्रारंभ से ही जेल में थे।

हालात के मारे नये वाइसराय ने सुलह की शर्तें तय करने के लिए पंडित मदनमोहन मालवीय को शांतिदूत बनाकर देशबन्धु से मिलने जेल भेजा। चित्तरंजन दास ने सुभाष तथा अपने अन्य साथियों से विस्तृत मंत्रणा करते हुए मंतव्य दिया कि इस वक्त सुलह कर लेने से स्वाधीनताकामी अपने लक्ष्य के नजदीक ही पहुंचेंगे। देशबन्धु और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने संयुक्त रूप से तार भेजकर गांधी जी से सुलह की शर्तें मान लेने की सिफारिश की। कलकत्ता और साबरमती के बीच कई तारें आयीं-गयीं। देशबन्धु का विचार था कि ब्रिटिश पेशकश खुदाई करिश्मा है, लेकिन गांधी जी ने सारी शर्तों को संतोषजनक नहीं माना। परिणाम हुआ, गतिरोध।

सन् 1921 के उत्तरार्ध में कांग्रेस ने बंगाल में अपूर्व प्रगति की, जिसमें सुभाष की उल्लेखनीय भूमिका थी। गांधी जी द्वारा पार्टी को दिये गये नये संविधान ने पूरे संगठन को जनाधार-संपन्न कर दिया था। तिरंगा पूरी तरह राष्ट्रध्वज बन गया, हर तरफ एक ही तरह के नारे गूंजने लगे, खादी राष्ट्रीय परिधान बन गयी और देश भर में—बंगाल, महाराष्ट्र,

पंजाब, मद्रास; सर्वत्र—एक ही नीति और एक ही विचारधारा मुखर हो उठी। बंगाल के इस कायापलट में देशबन्धु ने जिस एक व्यक्ति को विशिष्ट कार्य सौंपे, वह था हमारा भारतीय-आंग्ल नख-शिख वाला रूपवान, चौबीस वर्षीय युवा नायक—खूब गोरी रंगत, चौड़ा माथा, गहरी-भूरी भेदक आंखें; और हमेशा खादी का निराडंबर परिधान! वह कोई छुटभैया राजनीतिज्ञ नहीं था। देशवासी उसकी उच्च शैक्षिक उपलब्धियों और मानसिक शक्तियों के बारे में जानते थे और वह आई.सी.एस. को ठुकराकर त्याग की अपनी क्षमता प्रमाणित कर चुका था। राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल को खड़ा करने और राष्ट्रवादी शिक्षण संस्थाओं को बल-बूता देने में सुभाष की विशिष्ट भूमिका के दौरान उनके संगठन-कौशल को आजमाने के बाद उनके नेता ने उन्हें राष्ट्रवादी प्रेस के उन्नयन का विशेष दायित्व सौंपा—सर्वप्रथम 1921 में 'बाङ्लार कथा', फिर 1922 में 'आत्मशक्ति' और 1923 में 'फारवर्ड'। दूसरी ओर वे अपने इलाके, दक्षिण कलकत्ता में दक्षिण कलिकाता सेवा समिति तथा दक्षिण कलिकाता सेवाश्रम जैसी संस्थाओं के जरिये समाजोत्थान के कार्य में भी सक्रिय योगदान करते रहे।

वर्ष 1922 की शुरुआत अनिश्चय मगर उत्साह-भरे माहौल में हुई। इधर वाइसराय ने समझौते की पेशकश वापस ले ली और उधर गांधी जी ने बारदोली, गुजरात से कर-दबाओ-अभियान शुरू करने की अंतिम चेतावनी दे दी। तभी अकस्मात एक वज्रपात हुआ। फरवरी, 1922 के शुरू में चौरीचौरा (संयुक्त प्रांत) में उत्तेजित ग्रामवासियों ने एक पुलिस थाने को आग लगा दी और कुछ पुलिसिये मार डाले। इस घटना से गांधी जी स्तब्ध रह गये और उनके आग्रह पर कांग्रेस कार्यकारिणी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया। उस वक्त सुभाष देशबन्धु के साथ जेल में थे। आंदोलन स्थगित होनेवाले समाचार ने दोनों को दुख और रोष से भर दिया। कांग्रेस जन अचानक इस तरह मोर्चा छोड़ने से हक्के-बक्के रह गये और आशाओं से उमगती आम मनोदशा हताशा में डूब गयी।

वाइसराय लार्ड रीडिंग परिस्थिति का लाभ उठाकर आक्रामक हो उठा और महात्मा गांधी को राजद्रोह के आरोप में लंबे समय के लिए जेल में डाल दिया गया।

जन-आंदोलन के स्थगन को वास्तविकता मानकर देशबन्धु जेल में ही, विधानमंडलों में क्रांतिवादी गुत्थमगुत्था के मूलमंत्र पर आधारित असहयोग और संघर्ष छेड़ने तथा तमाम लाभकारी मोर्चों पर काबिज होने की एक नयी योजना बनाने में जुट गये। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा सविनय अवज्ञा पर बैठायी गयी जांच समिति के सदस्य देशबन्धु के समर्थन और विधानमंडलों का बहिष्कार जारी रखने के पक्ष में आधमआध बंट गये। सुभाष इसमें निष्ठापूर्वक अपने नेता के पक्षधर बने रहे।

सितंबर, 1922 में बंगाल में उत्तरी जिलों में भयंकर बाढ़ आयी। कांग्रेस अवसरोचित

फुरती से पीड़ित मानवता की सहायता को पहुंच गयी; सुभाष चन्द्र इसके पहले स्वयंसेवी जत्थे के मुखिया थे। उनके द्वारा संचालित राहत-कार्य इतना सफल हुआ कि कांग्रेस की प्रतिष्ठा बहुगुणित हो उठी, जबकि सरकारी प्रयास कृपणता और उदासीनता से भरे हुए थे।

वर्ष 1922 के उत्तरार्ध में दो घटनाएं ऐसी हुईं कि देशबन्धु के प्रमुख सहायक के रूप में सुभाष चन्द्र पर उनका महत्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव पड़ा। पहली, देशबन्धु के सभापतित्व में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन। यहीं देशबन्धु ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि जिस स्वराज के लिए हम जान खपा रहे हैं, वह उन लोगों के लिए है, जो भारतीय जनसंख्या का अठानवे प्रतिशत लोकाधार बनाते हैं। इस प्रकार सुभाष ने भारत के मजदूर आंदोलन में पदार्पण किया और गुरु के पदचिह्नों पर चलते हुए, 1931 में वे न सिर्फ आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अध्यक्ष बने, बल्कि एक दशक पूर्व अपने नेता द्वारा सुशोभित जमशेदपुर की टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी की लेबर एसोसिएशन के प्रधान-पद पर भी आसीन हुए। दूसरी घटना थी कलकत्ता में आयोजित यंगमैंस कांफ्रेंस, जो बंगाल के नये युवा आंदोलन की पूर्वपीठिका थी, और कुछ ही दिन बाद सुभाष चन्द्र बोस जिसके निर्विवाद, जादुई नेता बनकर उभरे। उस दशक के अंत तक भारत का युवा आंदोलन एक संघर्षधर्मी शक्ति बन गया, जिसके मार्गदर्शक नायक थे—सुभाष चन्द्र बोस और जवाहरलाल नेहरू।

वर्ष 1922 के अंत में आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की कलकत्ता में बैठक हुई। यह दिसंबर, 1922 के वार्षिक गया-अधिवेशन का पूर्व संवाद था, जिसके अध्यक्ष देशबन्धु बनाये गये थे। इस बैठक में परिवर्तन-समर्थकों, अर्थात देशबन्धु के अनुयायियों तथा किसी भी स्थिति में विधानमंडलों में कदम न रखने के हिमायती, गांधी जी के वफादार 'परिवर्तन-विरोधियों' में खूब शक्ति-परीक्षण हुआ। गया कांग्रेस में, जिसमें सुभाष ने भी भाग लिया था, देशबन्धु का प्रस्ताव गिर गया। अतएव अध्यक्ष के रूप में उनकी स्थिति कुछ कुछ असंगत हो गयी। कांग्रेस के आगामी वर्ष के कार्यक्रम निर्धारित करने के अवसर पर पंडित मोतीलाल नेहरू ने सबको आश्चर्यचकित कर दिया—उन्होंने ऐलान किया कि अध्यक्ष के कार्यक्रम को पूरा करने के लिए वह कांग्रेस-मुक्त स्वराज पार्टी का गठन कर रहे हैं। देशबन्धु ने अध्यक्ष-पद से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि वे अधिकृत प्रस्ताव के प्रतिपक्ष में काम करना चाहते थे। सुभाष चन्द्र ने लिखा है कि स्वराजवादी "पराजयभाव से विदा हुए थे, किंतु संघर्ष और विजय के प्रति दृढ़प्रतिज्ञ थे।"

9

सुभाष तथा देशबन्धु के अन्य अनुयायी गया-कांग्रेस से खिन्नमत बंगाल लौटे। उन लोगों की स्थिति काफी कमजोर हो चुकी थी, क्योंकि पार्टी-व्यवस्था 'परिवर्तन, विरोधियों' के हाथ में जा पहुंची थी, जो उस समय बहुमत में थे। लेकिन विशुद्ध दृढ़ प्रतिज्ञा, परिश्रम तथा अभियान-कौशल के बूते पर स्वराजवादी कांग्रेसियों को अपनी तरफ करते चले गये। देशबन्धु और पंडित मोतीलाल ने देश भर का दौरा किया, जबकि सुभाष और उन जैसे अन्य सहायक आम जनता को कायल करने लगे। फलस्वरूप 1923 के मध्य तक स्वराजवादी परिवर्तन- विरोधियों जितने ही ताकतवर हो गये। आखिर सितंबर, 1923 में, दिल्ली में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया, जहां कांग्रेसियों को चुनावों में भाग लेने और विधानमंडलों के मंच से सरकार का अनवरत अडिग विरोध जारी रखने का अनुमति संबंधी प्रस्ताव पास हो गया। चुनावों में स्वराजवादियों को उल्लेखनीय सफलता मिली। पंडित मोतीलाल नेहरू सेंट्रल असेंबली में अपने दल के नेता बने, जबकि बंगाल कौंसिल में नेतृत्व किया देशबन्धु ने। दिल्ली-कांग्रेस के बाद देशबन्धु ने कलकत्ता से अंग्रेजी दैनिक 'फारवर्ड' का प्रकाशन शुरू किया था, जिसका प्रबंध सुभाष को सौंपा गया था। कुछ ही समय बाद 'फारवर्ड' देश का एक प्रमुख राष्ट्रीय दैनिक बन गया।

एक तरफ तो सुभाष स्वराज पार्टी की गतिविधियों में शक्तिशाली भूमिका निभा रहे थे, दूसरी तरफ युवा संगठन की अपनी योजना को भी आगे बढ़ा रहे थे। उन्होंने आल बंगाल यूथ लीग का गठन किया, जिसके अध्यक्ष भी वही चुने गये। यूथ लीग देश भर के युवा संगठनों के लिए उदाहरण बनी। सुभाष के मतानुसार एक युवा संगठन का मकसद यह नहीं होना चाहिए कि युवा शक्ति किसी राजनीतिक दल की महज सहायक इकाई या आंदोलनकारी उपकरण के रूप में इस्तेमाल होती रहे, बल्कि उसका प्रमुख लक्ष्य देश के युवा वर्ग को दैहिक, मानसिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समुन्नत करना होना चाहिए ताकि वह भारतीय समाज के मूलगामी कायाकल्प एवं नये भारत के निर्माण का चरम कार्य पूरा कर सके; उसी भारत के, जो कि वक्त आने पर "विश्व को वही संदेश दे सके जो प्राचीन काल से उसकी विरासत रहा है।" सुभाष ने युवा शक्ति को इन्हीं आदर्शों के अनुरूप बनाने के लिए, बंगाल के हर जिले और इलाके में युवक-युवतियों

के क्लबों तथा संघों के गठन को खूब बढ़ावा दिया।

वर्ष 1923 के अंत में सुभाष को पार्टी-संगठन में एक महत्वपूर्ण पद सौंपा गया। अर्थात उन्हें बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी का महासचिव बनाया गया।

वर्ष 1924 का प्रारंभ स्वराजवादियों के लिए आशाओं भरा था। कलकता नगर निगम के चुनाव घोषित हुए और पार्टी ने उनमें भाग लेने का फैसला किया। हिंदू तथा मुस्लिम सीटों पर स्वराज पार्टी को पर्याप्त बहुमत मिला। देशबन्धु कलकत्ता के प्रथम महापौर चुने गये और शहीद सुहरावर्दी उप-महापौर। देशबन्धु के आग्रह पर सुभाष चन्द्र को मुख्य कार्यकारी अधिकारी, यानी निगम-प्रशासन का मुखिया नियुक्त किया गया। इस नियुक्ति पर सरकार बेहद भन्नायी और इसे मंजूरी देने में उसने खूब आनाकानी की।

देशबन्धु के महापौर तथा सुभाष के मुख्य कार्यकारी अधिकारी बनने के साथ कलकत्ता नगर निगम पर स्वराजवादियों का जो प्रभुत्व जमा, उससे भारत में नागरिक उन्नति के एक नये युग का सूत्रपात हुआ। महापौर के रूप में देशबन्धु का पहला भाषण एक तरह से नागरिक अधिकारों, नागरिक प्रगति और नागरिक स्वातंत्र्य का घोषणा पत्र था। सुभाष चन्द्र का काम था इन घोषणाओं को मूर्त करने का। पहली बार खादी नागरिक कर्मचारियों की सरकारी वर्दी बनी और बरतानवी नामों से विख्यात कई सड़कों तथा उद्यानों के नाम बदलकर भारतीय विभूतियों के नामों पर रख दिये गये। पहली ही बार एक योग्य शिक्षा-अधिकारी की देखरेख में, निगम शिक्षा विभाग शुरू किया गया। शहर भर में लड़के-लड़कियों के लिए निःशुल्क प्रारंभिक विद्यालय स्थापित किये गये। जनसेवी नागरिकों के सहयोग से स्वास्थ्य-चेतना जगाने के लिए प्रत्येक वार्ड में निगम-संचालित स्वास्थ्य-समितियां गठित की गयीं, निर्धनों की दवा-दारू के लिए प्रत्येक मंडल-क्षेत्र में मुफ्त औषधालय खोले गये। शहर के कुछ हिस्सों में बाल-चिकित्सालय भी खोले गये, जहां जरूरतमंद बच्चों को मुफ्त दूध दिया जाता था। कार्य-सूची के कार्यान्वयन में मुख्य कार्यकारी अधिकारी गजब की फुरती दिखा रहे थे। रात या दिन, उन्हें हर समय यहां, वहां, सब जगह संरक्षण-सेवाओं का, जल-आपूर्ति का, विद्युत-व्यवस्था का, सड़कों की मरम्मत वगैरह वगैरह का निर्देशन अथवा निरीक्षण करते देखा जा सकता था। कुछ ही महीनों में सुभाष ने निगम-प्रशासन को एक नयी दिशा और गति दे दी। उच्चपदस्थ अंग्रेजों के सम्मानार्थ स्वागत-समारोहों का चलन बंद कर दिया गया और शुरुआत हुई शहर में आनेवाले राष्ट्रवादी नेताओं के सत्कार-समारोहों की। जनसाधारण में नागरिक चेतना जगाने के लिए 'कैलकटा म्यूनिसिपल गैजेट' नामक साप्ताहिक समाचार पत्र का प्रकाशन आरंभ किया गया। भारतीय उत्पादों को बढ़ावा देने के लिए एक व्यावसायिक संग्रहालय स्थापित किया गया। मुख्य कार्यकारी अधिकारी सुभाष चन्द्र आधा वेतन गुजर-बसर के लिए रखकर आधा दान कर देते।

स्वराजवादी जब इस प्रकार कलकत्ता नगर निगम में आगे बढ़ रहे थे और बंगाल कौंसिल तथा इंडियन लेजिस्लेटिव असेंबली में अपनी अवरोधक समरनीति को सफलतापूर्वक अंजाम दे रहे थे, तभी देशबन्धु ने बंगाल कांग्रेस कमेटी का—जिसके महासचिव सुभाष थे—हुगली जिले के तारकेश्वर मंदिर के शोधन और लोकतंत्रीकरण के लिए सत्याग्रह आंदोलन छेड़ने का आह्वान किया। यह आंदोलन पंजाब में गुरुद्वारों के लोकतंत्रीकरण की मांग कर रहे अकाली आंदोलन की तर्ज पर चलाने की तजवीज थी। पर कांग्रेस के स्वयंसवेक जैसे ही तारकेश्वर की ओर बढ़े, सरकार दल-बल सहित निरंकुश महंत की बगल में आ डटी और स्वयंसेवकों पर निर्ममतापूर्वक टूट पड़ी। बंगाल में इसकी जबरदस्त जनप्रतिक्रिया हुई।

मई, 1924 में, बंगाल कांग्रेस के सिराजगंज सम्मेलन में बंगाल-समझौते का मसौदा पेश किया गया। यह मसौदा हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक एवं राजनीतिक सवालों से जुड़ा हुआ था, जिसमें मुस्लिम बिरादरी को सेवाओं और विशेषाधिकारों—जिनसे वह एक जमाने से वंचित चली आ रही थी—के मामले में भारी रियायतें दी गयी थीं। इस समझौते का जबरदस्त विरोध हुआ, मगर देशबन्धु ने किसी तरह इसकी संपुष्टि कर ही ली। यह गौरतलब है कि सुभाष चन्द्र ने भी अपने राजनीतिक जीवन में अपने गुरु की परंपरा का पूर्णतया पालन किया और अंतर्सांप्रदायिक समस्याओं को हमेशा न्यायपरायणता और विशाल हृदयता के आधार पर निबटाया। इसी सम्मेलन में एक क्रांतिकारी छात्र गोपीनाथ साहा—जिसने कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर की हत्या का प्रयास किया था—की शहादत से संबंधित एक अन्य महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी रखा गया था। आतंकवाद और हिंसा के बारे में देशबन्धु तथा सुभाष का दृष्टिकोण एक जैसा था। राष्ट्रीय आंदोलन में वे किसी भी तरह के आतंकवाद को अस्त्र बनाने के विचार को नामंजूर करते थे, लेकिन इस ऐतिहासिक सत्य को भी स्वीकार करते थे कि किसी भी राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में कुछ आदर्शवादी युवा आत्मोत्सर्गपूर्ण देशप्रेम से प्रेरित होकर आतंकवाद की तरफ खिंच ही जाते हैं। यों, एक राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के दौरान, इस तरह के विस्फोट अपरिहार्य हैं। इसलिए उनकी कार्यप्रणाली से असहमत होते हुए भी, देशबन्धु और सुभाष के मन में ऐसे क्रांतिकारियों की देशभक्ति, आदर्शनिष्ठा तथा आत्मबलिदान की भावना के प्रति गहरा सम्मान था।

वर्ष 1924 के मध्य में स्वराज पार्टी और इसके नेता देशबन्धु की प्रभाव शक्ति और प्रतिष्ठा नयी ऊंचाइयों को छूने लगी। अगस्त में कलकत्ता में आयोजित पार्टी के वार्षिक सम्मेलन में बड़ी संख्या में लोग शामिल थे और उनमें बेहद उत्साह था। ब्रिटिश सरकार के लिए स्वराज पार्टी को एक के बाद एक मिलती सफलता को देखते हुए और अधिक धैर्य रखे रहना मुश्किल हो गया। फलस्वरूप क्रोधोन्मत्त भाव से वह संगठन की जड़ काटने

पर आमादा हो उठी। 25 अक्तूबर, 1924 को मुंह अंधेरे सुभाष चन्द्र को नींद से जगाकर कहा गया कि उन्हें कलकत्ता के पुलिस कमिश्नर ने तलब किया है। सुभाष के जाने पर उसने कहा, "मिस्टर बोस, 1818 की तृतीय व्यवस्था के अंतर्गत मेरे पास आपकी गिरफ्तारी का वारंट है।" सुभाष चन्द्र के साथ बंगाल कौंसिल के दो प्रमुख स्वराजवादी सदस्य भी गिरफ्तार किये गये थे।

10

अक्तूबर, 1924 में बड़े पैमाने पर की गयी गिरफ्तारियों के संदर्भ में ब्रिटिश सरकार ने यह दलील दी कि एक क्रांतिकारी षड्यंत्र रचा जा रहा था। कलकत्ता के दो एंग्लो-इंडियन अखबारों ने इससे भी आगे बढ़कर आरोप लगाया कि 'क्रांतिकारी षड्यंत्र में दिमाग' सुभाष चन्द्र बोस का था। इसके जवाब में सुभाष चन्द्र बोस ने इन अखबारों पर मानहानि का दावा ठोक दिया। सरकार या सरकार नियंत्रित प्रेस अपने आरोपों की पुष्टि में चिंदी भर सबूत भी नहीं जुटा पाये। फिर भी, बिना मुकदमा चलाये, सुभाष तथा बंगाल के कई अन्य होनहार नेता लगभग तीन वर्ष तक बंदी बने रहे।

कलकत्ता के महापौर की हैसियत से देशबन्धु ने सुभाष की गिरफ्तारी के विरुद्ध नगर निगम में अत्यंत साहसिक भाषण दिया। अपने मुख्य कार्यकारी अधिकारी के सारे कामों का दायित्व अपने ऊपर लेते हुए उन्होंने विवादपूर्ण घोषणा की : "देशप्रेम यदि अपराध है तो मैं अपराधी हूं... नगर निगम का मुख्य कार्यकारी अधिकारी ही नहीं, कलकत्ता निगम का महापौर भी समान रूप से अपराधी है।"

लगभग छह सप्ताह के लिए सुभाष को, एक पुलिस अफसर तथा एक जेल अधिकारी की उपस्थिति में, अपने शासकीय काम पूरा करने की अनुमति दी गयी। दोनों अफसरों की वजह से उन्हें बार बार परेशानी होती और अक्सर वे उन दोनों पर बरस भी पड़ते। दंडस्वरूप उनका तबादला कलकत्ता से दूर बरहामपुर जेल में कर दिया गया। दो-एक महीने बाद उन्हें अचानक वापस कलकत्ता लाया गया और लालबाजार थाने की हवालात में ठूंस दिया गया, जो वस्तुतया पृथ्वी का नरक थी। फिर सुबह मुंह अंधेरे ही सुभाष चन्द्र तथा सात अन्य कैदी जेल की दो गाड़ियों में ठेल दिये गये और फिर वे सरपट नदी की ओर दौड़ने लगीं। यहां तीन घंटे तक उन्हें मोटरबोट में बिठाये रखकर और इस तट से उस तट तक नदी में चक्कर काटने के बाद बर्मा जानेवाले एक जहाज पर चढ़ा दिया गया।

चार दिन की समुद्र-यात्रा के बाद ये कैदी रंगून उतारे गये। वहां से, सशस्त्र पुलिस की कड़ी निगरानी में, दिन भर की रेल-यात्रा करके वे मांडले पहुंचे। मोटरगाड़ी से मांडले जेल जाते समय सुभाष इस गर्व से भर उठे कि यही वह स्थान है, जहां छह वर्ष तक लोकमान्य तिलक और करीब एक वर्ष तक लाला लाजपत राय बंदी रहे थे। मांडले जेल भीतर से

भारतीय जेलों से एकदम भिन्न थी। कोठरियां लकड़ी के बाड़ों जैसी थीं और सर्दियों की कड़कड़ा देनेवाली ठिठुरन, ग्रीष्म की प्रचंड धूल और गरमी तथा मूसलाधार बरसात से बचने का कैदियों के पास कोई उपाय नहीं था। हालांकि जेल-अधीक्षक तथा अन्य अधिकांश स्थानीय अधिकारियों का रवैया ठीक था, लेकिन बंगाल सरकार का रवैया, जो कि अपने कैदियों के भले-बुरे की खासतौर पर जिम्मेदार थी, प्रतिशोधपूर्ण था और भारत सरकार इस सबसे एकदम निस्पृह थी।

सुभाष चन्द्र ने लोकसेवा के प्रशिक्षण का प्रारंभिक दौर देशबन्धु चित्तरंजन दास की देखरेख में पूरा किया था। दूसरा दौर उनका बर्मा जेल के इस लकड़कोट में बीता, जहां भारत में उनकी भावी भूमिका निर्धारित हुई। बर्मा जेल की उस कोठरी से एक मित्र को लिखे गये पत्र में, अपने जेल-जीवन का ब्यौरा देते हुए उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता का उद्धरण दिया था :

अपने ही कल्पनालोक में जी रहा हूं मैं,
बस यही कारा है मेरी राजधानी
आश्रय वात हूं आत्मचिंतन में।

....

पाषाणों से पोषित बदल रहा हूं,
बन रहा हूं आदमी।

....

स्वयं ही विस्तार दे रहा हूं अपने अंतर को,
और पा रहा हूं क्षमता
भावी चुनौतियों का सामना करने की,
जाने कब आयेगा वह दिन
पूरे विश्वास से कह सकूं,
मुझे बोध हो गया।
आओ, मेरे साथ चलो,
बुला रही है नियति,
मेरे जीवन से मिले तुम्हें नवजीवन
और जाग उठे मेरा देश।

श्रमसाध्य एवं कठोर बंदीकाल में सुभाष चन्द्र प्रबल एवं प्रगाढ़ आत्मचिंतन तथा अध्ययन

आदि में डूबे रहते। उनकी जेल-डायरियों पर सरसरी नजर डालते ही स्पष्ट हो जाता है कि मांडले कारागार की एकाकी कोठरी में वे किस कदर विभिन्न विषयों पर सोचते तथा लिखते रहे। उदाहरणार्थ, दर्शन एवं धर्म, इतिहास एवं राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं समाजशास्त्र तथा रवीन्द्र संगीत सहित कला एवं संस्कृति, शिक्षा विज्ञान, जन-स्वास्थ्य, जेल-सुधार, नागरिक प्रगति, आदि आदि। यही नहीं, उन्होंने बर्मी इतिहास, राजनीति तथा राष्ट्र का भी विशद अध्ययन किया। दीर्घ कारावास के दौरान उन्होंने अपने परिजनों, खासकर भैया शरत्, मित्रों तथा साथियों के साथ साथ भारत सरकार से भी खूब पत्र व्यवहार किया। इन पत्रों में (जो नेताजी रिसर्च ब्यूरो द्वारा प्रकाशित किये गये हैं) सुभाष अनेक विषयों की चर्चा और विवेचना करते हैं। सामाजिक संस्थाओं से संबद्ध अपने सहयोगियों को लिखे पत्रों में वे संस्थाओं के संचालन एवं विकास की बाबत विस्तृत आदेश और परामर्श देते रहे। सरकार को भेजी उनकी चिट्ठियों में विदेशी नौकरशाही के विरुद्ध उनके सतत संघर्ष की झलक मिलती है; वे एक पराधीन देश में राजनीतिक बंदियों के अधिकारों तथा सुविधाओं का सवाल उठाते हैं।

अक्तूबर, 1925 मे सुभाष चन्द्र और उनके साथी बंदियों ने जेल में दुर्गा-पूजा करने के लिए सहूलियत और धन की मांग की। जेल अधीक्षक ने उन्हें इस उम्मीद पर अनुमति दे भी दी कि ऊपर से मंजूरी मिल ही जायेगी, पर सरकार ने मना कर दिया। इस पर, फरवरी, 1926 में, सुभाष और उनके साथी बंदियों ने भूख-हड़ताल कर दी। आखिर पंद्रह दिन उनके भूखे रहने के बाद सरकार ने उनकी मांगें मान लीं।

वर्ष 1926 के अंत में विधानमंडलों को भंग करके नये चुनाव घोषित किये गये। बंगाल कांग्रेस ने कलकत्ता निर्वाचन क्षेत्र से सुभाष चन्द्र को अपना प्रत्याशी बनाया। सुभाष का प्रतिद्वंदी काफी ताकतवर और बंगाल में उदारपंथियों का नेता था। पिछले चुनाव में वह स्वराजवादी प्रत्याशी को पछाड़ चुका था। मुकाबला बेहद दिलचस्प था और सुभाष, राजनीतिक निक्रिष्यता के एक खासे अरसे बाद, देश भर में राष्ट्रवादी लहर की वापसी के प्रतीक बन गये, और वे भारी बहुमत से जीते भी। लेकिन उनकी कैद जारी रही।

कारागार की प्रतिकूल परिस्थितियों तथा अहितकर जलवायु के साथ साथ 1926 की भूख-हड़ताल के प्रभाव से सुभाष चन्द्र का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। निमोनिया के हमले के बाद उन्हें लगातार बुखार रहने लगा और वे सूखते चले गये। उन्हें रंगून ले जाया गया, जहां जांच के बाद मेडिकल बोर्ड ने राय दी कि अब उन्हें कारागार में रखना उचित नहीं होगा। इस पर उन्हें इनशीन जेल में स्थानांतरित कर दिया गया। वहां के अधीक्षक ने भी सरकार को सुभाष के बारे में आवश्यक संदेश भेजा, पर वह नहीं पसीजी। उसने शर्त रखी कि यदि सुभाष चन्द्र भारत लौटे बिना रंगून से ही यूरोप जानेवाले समुद्री जहाज में बैठ

जाय, तो वह उसे रिहा कर देगी। सुभाष ने यह पेशकश पूरी तरह ठुकरा दी। बर्मा के इंस्पेक्टर-जनरल (जेल) को लिखे पत्र में उन्होंने कहा, "मैं अपने जीवन को महत्व देता हूं, मगर सम्मान को उससे भी ज्यादा चाहता हूं और जीवन के लिए उन पवित्र एवं अनतिक्रमणीय अधिकारों का सौदा नहीं कर सकता जो भारत के भावी राजनय का आधार बननेवाले हैं।" इसके बाद सरकार ने उन्हें संयुक्त प्रांत की अल्मोड़ा जेल में स्थानांतरित करने का आदेश दिया। रंगून से बोट में बैठकर चौथे दिन वे हुगली के मुहाने पर डायमंड हार्बर पहुंचे। लेकिन बोट के कलकत्ता पहुंचने से पहले ही उन्हें बंगाल के गवर्नर की लांच पर उतार लिया गया। यहां एक और मेडिकल बोर्ड ने उनकी जांच की, जिसमें डा. नीलरतन सरकार, डा. बी.सी. राय तथा गवर्नर के निजी चिकित्सक शामिल थे, और अगली सुबह वे रिहा हो गये। यह 1927 क मई महीना था।

11

अक्तूबर, 1924 से मई, 1927 के दौरान उधर तो सुभाष बर्मा की जेलों में कष्ट भोग रहे थे, इधर राजनीतिक परिस्थितियों में गिरावट आ रही थी। आम वातावरण पतन और विघटन का था। इस स्थिति का एक मुख्य कारण था जून, 1925 में देशबन्धु चित्तरंजन दास का असामयिक निधन। 1924-25 में देशबन्धु अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर थे और भारतीय राजनीति में उनकी तूती बोलती थी। उनके घनिष्ठतम शिष्य सुभाष चन्द्र के लिए उनका स्वर्गवास राष्ट्रीय विपदा से भी कहीं बड़ी त्रासदी थी—निश्चय ही यह एक गहन व्यक्तिगत संताप था। निस्संदेह, उनके तेजी से गिरते स्वास्थ्य में इस निजी शोक का भी हाथ था। देशबन्धु की विधवा, श्रीमती वासंती देवी को लिखे उनके पत्र इस बात के प्रमाण हैं कि उनके हृदय में कैसा गहरा घाव हुआ था। वासंती देवी से उन्होंने अनुनय-विनय की कि बंगाल के सार्वजनिक जीवन में वह अपने पति के रिक्त स्थान की पूर्ति करें, ताकि देशवासियों का मनोबल बना रहे—खासकर युवाओं का, जो बेसहारा और उदास महसूस कर रहे थे।

वर्ष 1925-27 के दौरान भारत में राजनीतिक शैथिल्य का एक और प्रमुख कारण था गांधी जी का सक्रिय राजनीति से व्यवहारतः अवकाश। वे खादी-प्रचार और दलितों के लिए रचनात्मक काम में ही मस्त थे।

देशबन्धु की मृत्यु के बाद स्वराज पार्टी तेजी से विघटित हो गयी। उनके स्फूर्त नेतृत्व ने दक्षिणपंथी, मध्यमार्गी और वामपंथी आदि परस्पर विरोधी तत्वों को एक पार्टी के परचम तले एकजुट कर लिया था। देशबन्धु के अदृश्य होते ही ये असमान तत्व अपने अपने वैचारिक रुझान के अनुरूप अपने अपने लंगर डालने के लिए नये तट खोजने निकल पड़े।

सुभाष चन्द्र बर्मा से एकदम जीर्णकाय लौटे थे। उनके लिए पहला काम था शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ होकर सार्वजनिक जीवन में पुनर्सक्रिय होना। 1927 के उत्तरार्ध में कुछ महीने सपरिवार शिलांग में रहकर, उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। यद्यपि वे लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य थे, पर उनकी मुख्य चिंता थी कांग्रेस पार्टी, जो राजनीतिक संघर्ष का अखिल भारतीय आधार थी। महात्मा गांधी ने देशबन्धु का उत्तराधिकारी जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त को बनाया था, लेकिन पार्टी भीतरी झगड़ों की चपेट में थी। श्रमिक असंतोष फैलने लगा था और नयी नयी शक्तियां नयी नयी विचारधाराएं लेकर राजनीतिक रणभूमि में उतर रही थीं। इसी वातावरण में,

1927 के अंत में, सुभाष बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चुने गये।

परिस्थितियां आमतौर पर अवसादपूर्ण ही थीं कि ब्रिटिश सरकार ने भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन को नयी रफ्तार देनेवाला एक काम कर डाला। वाइसराय लार्ड इर्विन ने भारत की राजनीतिक स्थिति का जायजा लेकर सांविधानिक संशोधन सुझाने के लिए, सर जान साइमन की अध्यक्षता में एक संपूर्ण-आंग्ल आयोग नियुक्त करने का ऐलान किया। ब्रिटेन में तब टोरियों की सत्ता थी। वे लेबर पार्टी के सत्ता में आने से पहले ही भारत का मामला निपटा देना चाहते थे। इंडियन नेशनल कांग्रेस ने साइमन कमीशन के गठन पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। भारतीय लोग पहले से ही भारत के प्रारब्ध के विषय में ब्रिटिश संसद के पंच-निर्णय के अधिकार को चुनौती देने पर आमादा थे। अतः स्वाभाविक ही था कि कांग्रेस बिना समय खोये बेझिझक, साइमन कमीशन के बहिष्कार का फैसला करती।

वर्ष 1926 में भारत ने भारी सांप्रदायिक तनाव और कलह झेला था। लेकिन स्थिति अब बेहतर हो चली थी। नवंबर में हुए एकता सम्मेलन के बाद कलकत्ता में आल इंडिया मुस्लिम लीग का एक अधिवेशन हुआ था और दिसंबर, 1927 में, मद्रास में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ था। मद्रास कांग्रेस ने प्रस्ताव पारित करके "हर स्तर पर और हर रूप में" साइमन कमीशन का बहिष्कार करने की ठान ली। एक सर्वदलीय सम्मेलन आयोजित करके स्वतंत्र भारत के संविधान की रूपरेखा निर्धारित करने की एक योजना भी पारित की गयी। इससे भी ऊपर, कांग्रेस ने भारतीय जनता का उद्देश्य 'पूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता' तय किया। काल के इसी बिंदु से, नये उभरे युवा आंदोलन ने कांग्रेस की नीति पर निश्चित प्रभाव डालना शुरू कर दिया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में उदीयमान वामपक्षियों के प्रतिनिधि भी शामिल किये गये तथा जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चन्द्र बोस और शोएब कुरैशी को महासचिव नियुक्त करके संगठन को नयी दिशा दी गयी।

फरवरी, 1928 में साइमन कमीशन भारत पहुंचा तो कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के मार्गदर्शन में समूचे देश ने हड़ताल की। बंगाल में सुभाष के नेतृत्व से लैस प्रदेश कांग्रेस ने इससे भी आगे बढ़कर ब्रिटेन उत्पादित वस्तुओं के बहिष्कार की जोरदार मुहिम शुरू कर दी। मई में सुभाष साबरमती गये और महात्मा गांधी से अनुरोध किया कि वे अवकाश प्राप्ति को तिलांजलि देकर देश का नेतृत्व संभालें और विशालतम स्तर पर राष्ट्रीय आंदोलन का मार्गदर्शन करें। लेकिन गांधी जी नहीं माने।

इधर सार्वजनिक विरोध झेल रहे साइमन कमीशन ने देश-भ्रमण शुरू किया, उधर सर्वदलीय सम्मेलन की बैठकें हुईं—पहले मार्च में और फिर मई, 1928 में—और पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक विशिष्ट समिति गठित की गयी, जिसमें सुभाष भी शामिल थे। संविधान के मूलाधार को लेकर मतभेद थे, चूंकि, सुभाष समेत जो अल्पमत

था, वह भारत को औपनिवेशिक राज्य का दर्जा अथवा डोमिनियन स्टेट्स दिलाने की बजाय पूर्ण स्वाधीनता दिलाने का पक्षधर था। नेहरू-समिति नये संविधान के सिद्धांत तय करने में व्यस्त ही थी कि धुआंधार दौरे करते सुभाष पुणे जा पहुंचे। वहां एक राजनीतिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए सुभाष ने राजनीतिक संघटन तथा कांग्रेस के लिए उपयुक्त कार्यक्रमों एवं समरनीति की बाबत अपने विचार प्रकट किये। उन्होंने कहा कि कांग्रेस को श्रमिक संगठन में सीधे उतर पड़ना चाहिए; और अपने अपने सामुदायिक एवं राष्ट्रीय लक्ष्यों को सामने रखकर महिलाओं, युवाओं तथा विद्यार्थियों को अपने अपने स्वाधीन संगठन बनाने चाहिए।

नेहरू-समिति को सांप्रदायिक समस्या के समाधान में तो आंशिक सफलता मिल गयी, लेकिन डोमिनियन स्टेटस की बाबत उसकी सिफारिशें जवाहरलाल, सुभाष चन्द्र तथा अन्य युवा वामपंथी राष्ट्रवादियों को मंजूर नहीं थीं। लेकिन उद्देश्य यह भी था कि राष्ट्रीय एकता पर आंच न आने पाये, इसलिए उन्होंने कांग्रेस को सरेआम विभाजित करने की बजाय पार्टी में ही अपना एक मंच गठित करके संपूर्ण स्वाधीनता का अभियान छेड़ने का फैसला किया। यथानुसार दिल्ली में, नवंबर, 1928 में, देश के विभिन्न भागों में शाखाओं से लैस एक स्वाधीन भारतीय संघ—इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग—का उद्घाटन हुआ, जिसका संयुक्त नेतृत्व ग्रहण किया जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस ने। दोनों ही कांग्रेस के महामंत्री बने रहे।

इंडिपेंडेंस आफ इंडिया लीग की प्रतिध्वनि राष्ट्रीय जीवन के एक अत्यंत महत्वपूर्ण क्षेत्र—छात्र आंदोलन के क्षेत्र—में हुई। बंगाल भर में, खासकर कलकत्ता में, विद्यार्थियों ने साइमन कमीशन के विरुद्ध उल्लेखनीय भूमिका निभायी थी और इस संघर्ष में उन्हें बहुत कुछ खोना भी पड़ा था। इसलिए विद्यार्थियों के एक ठेठ अपने संघ की जरूरत भी महसूस की जा रही थी, जो अपने अधिकारों की रक्षा के लिए लड़ सके। सुभाष और जवाहरलाल दोनों ने ही इस स्थिति को परवान चढ़ाने में सक्रिय योगदान दिया। अगस्त, 1928 में, कलकत्ता में आयोजित आल बंगाल स्टूडेंट्स कांफ्रेंस की सदारत जवाहरलाल ने की। इसके बाद समूचे बंगाल में और धीरे धीरे देश के अन्य प्रांतों में भी छात्रसंघ तेजी से पनपने लगे।

वर्ष बीतने के साथ साथ राजनीतिक तापमान बढ़ता गया और होते होते श्रमिक वर्ग भी चपेट में आ गया। गये साल कलकत्ता के करीब खड़गपुर में रेलवे कर्मचारियों की हड़ताल हो ही चुकी थी। 1928 में जमशेदपुर के टाटा स्टील वर्क्स में भी हड़ताल हो गयी। श्रमिकों का नेतृत्व सुभाष चन्द्र ने संभाल लिया, और इस प्रकार, हड़ताल श्रमिक-आंदोलन में सुभाष के पदार्पण का माध्यम बन गयी। इसके बाद बंबई के कपड़ा-मजदूरों, कलकत्ता के पास

लिलुआ के रेल-मजदूरों तथा कई अन्य स्थानों में भी हड़तालें होती चली गयीं।

युवा संगठन में भी सुभाष बराबर सक्रिय रहे। दिसंबर, 1928 में, बंबई के के.एफ. नरीमन की अध्यक्षता में कलकत्ता में आल इंडिया यूथ कांग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ, जिसकी स्वागत समिति के प्रधान थे, सुभाष। अधिवेशन में सुभाष ने विद्यार्थियों और युवाओं से सहिष्णुतावाद एवं रूढ़िवाद तजकर सक्रियतावाद एवं आधुनिकतावाद अपनाने का आग्रह किया। उन्होंने बारंबार ये दलीलें दीं कि हमारे सपनों के भारत का निर्माण आधुनिक विचारों एवं पद्धतियों से ही संभव है।

12

इंडियन नेशनल कांग्रेस का 1928 का वार्षिक अधिवेशन पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में, कलकत्ता में हुआ। कांग्रेस के प्रारंभ से लेकर इस 43वें अधिवेशन में भाग लेनेवालों की संख्या सबसे ज्यादा थी और तमाम प्रबंध बहुत बड़े पैमाने पर किये गये थे। अधिवेशन में सुभाष चन्द्र बोस राष्ट्रीय आंदोलन की वाममार्गी एवं युवा शक्तियों के प्रमुख प्रवक्ता बनकर सामने आये। वे कांग्रेस वालंटियर कोर के जनरल-आफिसर-कमांडिंग भी थे। इस कोर, स्वयंसेवक अथवा सेवादल को अर्धसैनिक शैली पर गठित और प्रशिक्षित भी सुभाष ने ही किया था तथा उसमें कई तरह की टुकड़ियां थीं—मोटरसाइकिल यूनिट, घुड़सवार यूनिट तथा महिला कोर, आदि। सभी अर्धसैनिक वर्दी पहनते थे। पूर्ण सैनिक वेश में जनरल-आफिसर-कमांडिंग ने जब स्वयंसेवकों की परेड का मुआयना किया तो भव्य दृश्य उपस्थित हो उठा। इस प्रकार सुभाष चन्द्र ने राष्ट्रीय आंदोलन में एक नया तत्व जोड़ा—राष्ट्रकर्मियों में सैनिक अनुशासन। 1928 में यह सब झांकी भर था, जबकि द्वितीय विश्वयुद्ध में दक्षिण-पूर्व एशियाई मोर्चे पर इसे सत्य एवं व्यावहारिक रूप में सामने आना था।

कांग्रेस अधिवेशन में मुख्य राजनीतिक प्रस्ताव को लेकर बुजुर्ग और युवा नेताओं के बीच मतभेद साफ हो उठे। महात्मा गांधी द्वारा पेश इस प्रस्ताव में डोमिनियन स्टेट्स की मांग करते हुए ब्रिटिश सरकार को (मांग स्वीकार करने के लिए) साल भर की मोहलत दी गयी थी, जिस पर खुले अधिवेशन में संशोधन पेश करते हुए सुभाष ने कहा कि कांग्रेस पार्टी का लक्ष्य होना चाहिए देश की संपूर्ण स्वाधीनता। अपने संशोधन के पक्ष में दलील देते हुए सुभाष ने कहा कि मुख्य प्रस्ताव का तात्पर्य होता है गये साल, मद्रास कांग्रेस में लहराये गये आजादी के झंडे को झुका लेना; और आगे कहा कि देशवासियों, विशेषतया नयी पीढ़ी में, नयी मानसिकता तथा नयी चेतना जगाने के लिए संपूर्ण स्वाधीनता की घोषणा बहुत जरूरी है। अपने वक्तव्य में सुभाष ने यह भी जोड़ा कि प्रस्तुत संशोधन को वे पूर्ण दायित्वबोध से पेश कर रहे हैं; क्योंकि जिस युवा पीढ़ी का वे प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, स्वाधीनता के मुद्दे पर वह कांग्रेस में होनेवाले विभाजन के परिणाम झेलने को तैयार है। उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का भी हवाला दिया। उनका तर्क था कि अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में मद्रास प्रस्ताव

ने भारत को जो प्रतिष्ठा दिलायी है, उसे गंवा बैठना हम सहन नहीं करेंगे। दूसरे, यूरोप एवं एशिया की राजनीतिक उथल-पुथल तथा साम्राज्यवादी शक्तियों में मची हथियारों को हथियानेवाली दौड़ यह संकेत कर रही है कि विश्व विध्वंस की ओर जा रहा है। इन हालात में यह जरूरी है कि भारत दृढ़तापूर्वक अविलंब एवं संपूर्ण स्वतंत्रता पर डटा रहे। लेकिन सुभाष चन्द्र का संशोधन 1350 के मुकाबले 973 मतों से गिर गया।

सुभाष चन्द्र की धारणा थी कि कलकत्ता कांग्रेस के वक्तटालू प्रस्ताव से अमूल्य समय नष्ट हुआ तथा आगे बढ़ने को आतुर जनसाधारण का मनोबल गिर गया। अच्छी बात, सुभाष के अनुसार, सिर्फ यह रही कि कांग्रेस में वामपंथियों की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि हुई।

कलकत्ता कांग्रेस के बाद महात्मा गांधी ने ऐलान किया कि 31 दिसंबर, 1929 तक ब्रिटिश सरकार ने डोमिनियन होमरूल की मांग स्वीकार न की तो 1 जनवरी, 1930 से स्वयं भी पूर्ण स्वाधीनतावादी हो जायेंगे। स्पष्ट है कि वे एक समय से तालमेल बैठाने और भावी संघर्ष की तैयारी में लगे हुए थे। उधर 1929 में, तीन सुनिश्चित दिशाओं की ओर संकेत करनेवाली कुछ नयी परिस्थितियां पैदा हो गयीं, जिनसे लोगों का मनोबल बना रहा। इनमें से पहली थी उत्तर भारत में क्रांतिकारी कार्रवाइयों का विस्फोट—लाला लाजपत राय पर सांघातिक आक्रमण के लिए जिम्मेदार ब्रिटिश पुलिस अफसर की हत्या और भगत सिंह तथा बटुकेश्वर दत्त द्वारा नेशनल असेंबली, दिल्ली में बम का धमाका। इन घटनाओं के फलस्वरूप सरकार ने लाहौर-षड्यंत्र नाम से जाने गये जिस मुकदमे की शुरुआत की, उसने न सिर्फ लोगों की दिलचस्पी जगाई, बल्कि देश भर में क्रांतिकारी देशभक्तों के प्रति सहानुभूति भी पैदा होने लगी। सरदार भगत सिंह पंजाब की 'नौजवान भारत सभा' नाम से विख्यात युवा आंदोलन के नेता थे, जिससे बाद में सुभाष चन्द्र का भी अंतरंग साहचर्य स्थापित हुआ। लाहौर-षड्यंत्र कांड के अभियुक्तों में से एक था—बंगाली तरुण जतीन्द्रनाथ दास, जो कलकत्ता स्थित, सुभाष चन्द्र की कमान में कांग्रेस वालंटियर कोर में मेजर हुआ करता था। उसी जतीन ने जेल में आमरण अनशन शुरू कर दिया—उसकी मांग थी कि क्रांतिकारी बंदियों को राजनीतिक अभियुक्तों जैसी सुविधाएं दी जायें। सरकार ने यह मांग ठुकरा दी। अंततः वह अनशन के ही दौरान 13 सितंबर, 1929 को शहीद हो गया। जतीन दास की शहादत से सुभाष बुरी तरह उद्वेलित हो उठे और उसकी अंत्येष्टि का जिम्मा उन्होंने अपने सिर ले लिया। जतीन की शहादत से भारतीय तरुण गहन रूप से अभिप्रेरित हुए और विद्यार्थियों एवं युवा संगठनों को इससे भारी बढ़ावा मिला। दूसरी उल्लेखनीय परिस्थिति यह बनी कि बंगाल के विभिन्न जिलों तथा दीगर प्रांतों में छात्रों एवं युवा-सम्मेलनों का तांता लग गया। इनमें से अधिकांश, मसलन पंजाब स्टूडेंट्स कांफ्रेंस के प्रथम अधिवेशन,

सेंट्रल प्राविंसेज यूथ कांफ्रेंस तथा बिहार स्टूडेंट्स कांफ्रेंस की अध्यक्षता सुभाष चन्द्र ने की। इस तरह के सम्मेलनों में बढ़-चढ़कर भाग लेने वाले अन्य नेता थे—जवाहरलाल नेहरू, कमला देवी चट्टोपाध्याय, सरोजिनी नायडू तथा पंडित मदनमोहन मालवीय। विद्यार्थियों एवं युवाओं के समक्ष बोलते हुए सुभाष ने राष्ट्र प्रेम, सत्यनिष्ठा, आत्मोत्सर्ग, साहस एवं भारत की संपूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य पर अडिग रहने की आश्वयकता पर अनवरत बल दिया। अपने नौजवान श्रोताओं से वे कहते कि जनमत तैयार करने की जिम्मेदारी उन्हें खुद उठानी होगी, क्योंकि उन्हें ही भारत की समस्याएं सुलझानी हैं—इसलिए यह जरूरी है कि अपने समकालीनों की बनिस्बत वे कहीं दूर अपनी निगाहें टिकायें। परिस्थितियों ने तीसरा महत्वपूर्ण मोड़, 1929 के दौरान, यह लिया कि श्रमिक वर्ग में असंतोष (जिसका प्रारंभ पूर्व वर्ष में हो चुका था) बढ़ने लगा। मार्च, 1929 में मजदूर-संघों के कुछ नेता, जिनमें से तीन अंग्रेज भी थे, गिरफ्तार कर लिये गये और उन पर जो मुकदमा चला, वह मेरठ षड्यंत्र केस के नाम से जाना गया। सुभाष चन्द्र इन बंदियों की पैरवी समिति से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे और उन्होंने उनके बचाव में सक्रिय योगदान भी दिया।

सुभाष चन्द्र का विचार था कि देश की अन्य तमाम घटनाओं के महत्ववर्धन के लिए, 1929 में ही, बड़े पैमाने पर एक राजनीतिक अभियान भी छेड़ देना चाहिए था। ऐसे अभियान के लिए बंगाल में परिस्थितियां विशेष रूप से कांग्रेस के अनुकूल थीं, क्योंकि लेजिस्लेटिव कौंसिल में उसकी बदौलत बार बार मंत्री हटाये-बदले जाते थे। गवर्नर ने जब कौंसिल भंग करके नये चुनाव घोषित किये तो कांग्रेस अधिक शक्तिशाली होकर असेंबली में लौटी थी। सुभाष तथा कांग्रेस में उनके साथियों की असाधारण संगठन-क्षमता पत्रकारिता के क्षेत्र में भी देखी गयी। सरकारी स्वामित्व वाली ईस्ट इंडियन रेलवे की मानहानि के लिए अदालत ने राष्ट्रवादी समाचारपत्र 'फारवर्ड' पर इतना भारी जुर्माना किया कि अखबार बंद कर देना पड़ा। लेकिन अगले ही दिन से 'लिबर्टी' नामक एक नया अखबार प्रकाशित होने लगा, जिससे कांग्रेस पार्टी को अपने एक प्रमुख प्रचार-माध्यम से वंचित नहीं होना पड़ा।

1929 के उत्तरार्ध में गांधी जी के आग्रह पर एक प्रस्ताव पारित करके कांग्रेसियों को विधानमंडलों से इस्तीफा देने को कहा गया। पंडित मोतीलाल नेहरू ने भी इस आह्वान का समर्थन किया, हालांकि दो-एक महीने पहले ही उन्होंने बंगाल कांग्रेस को चुनाव लड़ने के लिए प्रोत्साहित किया था। लेकिन जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त तथा सुभाष चन्द्र ने इसका इतना विरोध किया कि प्रस्ताव रद्द कर दिया गया और सारे मामले पर दिसंबर के लाहौर अधिवेशन तक फैसला टाल दिया गया।

लाहौर कांग्रेस के लिए अध्यक्ष चुनने की बारी आयी तो प्रदेश कांग्रेस कमेटियों ने बहुमत से गांधी जी को नामांकित किया, लेकिन उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के पक्ष में अपना

नाम वापस ले लिया।

अक्तूबर, 1929 में, लेबर प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैकडोनल्ड के कहने पर, वाइसराय लार्ड इर्विन ने घोषणा की कि डोमिनियन स्टेट्स पाना भारत की सांविधानिक प्रगति का स्वाभाविक परिणाम होगा; और साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद लंदन में एक गोलमेज कांफ्रेंस की जायेगी। अतः नवंबर में सारी पार्टियों के नेताओं की एक बैठक हुई। इसमें भारी बहुमत से यह घोषणा की गयी कि प्रभुसत्ता संपन्न औपनिवेशिक भारत का संविधान तैयार करने के लिए ब्रिटिश सरकार को पूरा सहयोग दिया जायेगा। इस घोषणा पर हस्ताक्षर करनेवालों में महात्मा गांधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल, वी.एस. शास्त्री तथा तेजबहादुर सप्रू भी थे। लेकिन यहीं एक अलग घोषणा पत्र भी जारी हुआ। इसमें सुभाष चन्द्र बोस के साथ साथ सैफुद्दीन किचलू तथा अब्दुल बारी ने औपनिवेशिक राज्य का दर्जा–डोमिनियन स्टेट्स–स्वीकार करने और तथाकथित गोलमेज कांफ्रेंस में भाग लेने का विरोध किया। उनकी मांग थी कि एक सही गोलमेज कांफ्रेंस के भारतीय प्रतिनिधियों का चुनाव ब्रिटिश सरकार द्वारा नहीं, भारतीय जनता द्वारा किया जाना चाहिए। इन तीनों ने चेतावनी दी कि ब्रिटिश प्रस्ताव महज झांसा है और आयरलैंड में चली गयी अंग्रेजों की उस चाल की याद दिलाता है, जिसे शिन फेन पार्टी ने भांपकर नामंजूर कर दिया था।

दिसंबर में महात्मा गांधी और मोतीलाल नेहरू ने ब्रिटिश वाइसराय से मिलकर यह आश्वासन चाहा कि डोमिनियन स्टेट्स भारत को दे ही दिया जायेगा। लेकिन आश्वासन नहीं मिला। अतः दोनों नेता निराश और खाली हाथ लाहौर कांग्रेस में लौट आये।

13

जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में ऐतिहासिक लाहौर-कांग्रेस दिसंबर, 1929 के अंत में आयोजित हुई। यहां महात्मा गांधी ने स्वयं संपूर्ण स्वाधीनता की बाबत प्रस्ताव रखा। 31 दिसंबर, 1929 की विदा वेला अर्धरात्रि के समय, अपार जनसमूह की उपस्थिति में, कांग्रेस के युवा अध्यक्ष ने व्यास नदी के किनारे स्वतंत्रता का ध्वजारोहण किया। भारत के लोगों के लिए यह घटना बड़ी प्रेरणादायक थी और नया संदेश लेकर आयी थी।

सुभाष चन्द्र बोस कलकत्ता-कांग्रेस में प्रतिपादित अपनी बात से एक कदम और आगे बढ़ गये। उन्होंने आग्रह किया कि राष्ट्र की इस इच्छा को मूर्त करने के लिए एक सकारात्मक कार्यक्रम अपनाया जाये। प्रस्ताव पेश करते हुए उन्होंने कहा कि देश में समानांतर प्रशासन स्थापित करने के लिए कांग्रेस को श्रमिकों, किसानों और युवाओं को संगठित करने का बीड़ा उठाना चाहिए। उनके विचार से विधानमंडलों से कांग्रेसियों द्वारा इस्तीफे देने जैसी नकारात्मक कार्रवाइयां ही पर्याप्त नहीं हैं। वाममार्गियों ने एक अन्य प्रस्ताव रखकर कहा कि गांधी जी द्वारा प्रतिपादित समाज रचना का कार्यक्रम उनके मशविरे के अनुसार स्वायत्तताभोगी संस्थाओं को न सौंपकर कांग्रेस के सदस्यों और संगठनों के पास ही रहने देना चाहिए। लेकिन ये दोनों प्रस्ताव विफल हो गये।

लाहौर-कांग्रेस के समक्ष भाषण देते हुए सुभाष ने कहा :

"मेरा कार्यक्रम सर्वतोन्मुखी बहिष्कार का है... आप संपूर्ण बहिष्कार के लिए तैयार नहीं हैं, तो महज कौंसिलों के बहिष्कार से कुछ हासिल नहीं होगा...

"मैं चरमपंथी हूं और मेरा सिद्धांत है—सब कुछ या कुछ नहीं।

"गोलमेज कांफ्रेंस दो युद्धरत पक्षों में होती है, दोनों पक्षों के पूर्णाधिकार संपन्न प्रतिनिधियों के बीच। मैं आपसे पूछता हूं कि ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधियों से संधिवार्ता करने के लिए भारत के लोगों को अपने मनचाहे पूर्णाधिकार संपन्न प्रतिनिधि भेजने का निमंत्रण दिया गया है या नहीं?...

"मेरा निवेदन है कि सविनय अवज्ञा तब तक कारगर नहीं होगी, जब तक हम श्रमिकों, कृषकों और दलितों को संगठित नहीं करेंगे..."

लाहौर-कांग्रेस में सुभाष चन्द्र बोस, श्रीनिवास आयंगर तथा वामपंथी खेमे के अन्य

लोग कांग्रेस कार्यकारिणी समिति से बाहर ही छोड़ दिये गये। महात्मा गांधी चाहते थे कि पार्टी का यह सर्वोच्च निकाय एकरूप हो, ताकि वे आलाकमान की किसी भी चुनौती से निःशंक रहकर अपनी योजनाओं पर ध्यानस्थ हो सकें।

बंगाल-कांग्रेस में, 1928 के कलकत्ता अधिवेशन के दौरान ही, फूट उस समय सामने आ गयी, जब जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त ने गांधी जी की नीतियों का निर्द्वंद्व समर्थन किया था, और सुभाष चन्द्र ने साहसपूर्वक गांधी जी के डोमिनियन होमरूल वाले प्रस्ताव के संबंध में संपूर्ण स्वाधीनता वाला अपना संशोधन पेश किया था। लाहौर-अधिवेशन से महीना भर पहले, बंगाल प्रदेश कांग्रेस कमेटी के चुनावों के समय ये मतभेद अत्यंत तीखे हो उठे। दोनों पक्षों की तीव्र स्पर्धा में बोस-पक्ष विजयी रहा। परिणामस्वरूप राजनीतिक सिद्धांतों और नीतियों के आधार पर बंगाल-कांग्रेस विभाजित हो गयी, और पार्टी की भीतरी खींचातानी 1933 में सेनगुप्त की मृत्यु तक चलती रही। लेकिन, कुल मिलाकर, प्रबल क्रांतिकारी तत्वों की सहमति पर टिकी बंगाल-कांग्रेस का बहुमत सुभाष के समूचे राजनीतिक जीवन में उनका समर्थक रहा।

जनवरी, 1930 के शुरू शुरू में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने ऐलान किया कि 26 जनवरी का दिन देश भर में स्वतंत्रता दिवस के रूप में मनाया जायेगा। समिति ने एक घोषणा पत्र जारी करके भारत को स्वाधीन कराने का ऐलान और संकल्प भी किया। प्रथम स्वाधीनता पर्व पूरे देश ने अभूतपूर्व उत्साह से मनाया। अभियान शुरू करने से पहले महात्मा गांधी ने एक ओर तो नरमपंथियों की आशंकाएं यह कहकर खत्म कर दीं कि वह 'स्वाधीनता का सार' पाकर भी संतोष कर लेंगे, दूसरी ओर वामपंथी तत्वों को उन्होंने इन शब्दों से आश्वस्त कर दिया, ''इस बार सविनय अवज्ञा शुरू होने के बाद एक भी अवज्ञाव्रती के मुक्त अथवा जीवित रहने तक रोकी नहीं जा सकेगी।''

अपने सैन्य कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए सुभाष ने कांग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी का गठन किया, लेकिन इन कार्यक्रमों पर अमल शुरू करने से पहले, लाहौर से कलकत्ता लौटते ही उन्हें गिरफ्तार करके साल भर की सख्त सजा सुना दी गयी, और पिंजरे में बंद शेर की तरह अब वे गांधी जी के नेतृत्व में घटनेवाली तूफानी घटनाओं को घटते देखते रहे।

मार्च के प्रारंभ में महात्मा गांधी ने ब्रिटिश वाइसराय लार्ड इर्विन को ऐतिहासिक चेतावनी देते हुए घोषित किया कि वे अपने कुछ चुनिंदा अनुयायियों के साथ नमक-कानून तोड़ने जा रहे हैं। सुभाष ने अपनी पुस्तक 'द इंडियन स्ट्रगल' में लिखा है—"इसके बाद गांधी जी द्वारा उठाये गये कदम हमेशा हमेशा के लिए उनके नेतृत्व की अपूर्व उपलब्धियों के रूप में अंकित रहेंगे, और वे सिद्ध करते हैं कि संकटकाल में उनका राजकौशल किन ऊंचाइयों तक पहुंच सकता था।'' गांधी जी के पत्र के जवाब में वाइसराय ने कानून तोड़ने के उनके

इरादे पर बड़ी रुखाई से अफसोस भर जाहिर किया था। तदुपरांत गांधी जी ने अहमदाबाद से सुदूर सागर तट पर बसे डांडी गांव तक तीन सप्ताह लंबी पद यात्रा की, जहां से सविनय अवज्ञा का शुभारंभ होना था। उनकी उस पद यात्रा ने रास्ते में पड़नेवाले गांवों में ही चेतना नहीं फूंकी, बल्कि समूचे देश में देशप्रेम और दृढ़ संकल्प की नयी बुलंदियां कायम कर दीं।

अप्रैल माह की 6 तारीख को समुद्र तट पर पड़े नमक के कुछ ढेले उठाकर गांधी जी ने जो आंदोलन शुरू किया, उसके साथ ही देश भर में अन्यायपूर्ण कानूनों के सविनय प्रतिरोध की लहर उमड़ उठी। सविनय अवज्ञा के साथ साथ शुरू हुआ ब्रिटिश उत्पादों का बहिष्कार, राजद्रोह, कानून की अवहेलना, शराब की दुकानों पर पिकेटिंग, वगैरह वगैरह। गांधी जी की खास अपील पर लाखों महिलाएं भी आंदोलन में कूद पड़ीं और उनके उत्साह ने पुरुषों के प्रयासों एवं त्याग भावनाओं को और ज्यादा उत्प्रेरित किया। अप्रैल बीतते न बीतते ब्रिटिश राज ने देश भर में आतंक राज का रूप ले लिया, एक के बाद एक अध्यादेश होने लगे और कांग्रेस गैरकानूनी पार्टी घोषित कर दी गयी। हजारों-हजार कैदियों के जत्थों को संभालने के लिए विशेष जेलें स्थापित की गयीं। कई प्रांतों में 'कर' न देने का अभियान भी छिड़ गया। सैकड़ों लोग गोलियों से भून दिये गये।

देश में जब यह विप्लव मचा हुआ था, तो अप्रैल महीने में ही चटगांव में एक सनसनीखेज क्रांतिकारी कांड हो गया। सूर्यसेन के नेतृत्व में मौत को चुनौती देनेवाले कुछ नौजवानों ने शस्त्रागार पर धावा बोलकर हथियार कब्जा लिये और पहाड़ियों में जा छिपे। कई दिन तक वे छापामार युद्ध करते रहे और उस इलाके में ब्रिटिश शासन मानो खत्म ही हो गया। छापामार युद्ध में अधिकांश क्रांतिकारी शहीद हो गये और बचे-खुचे भूमिगत हो गये। बंगाल भर में ब्रिटिश सेना का दमनचक्र चलता रहा। चटगांव-प्रसंग यद्यपि गांधी जी के आंदोलन के अनुरूप नहीं था, मगर इसने समूचे देश को झकझोर कर एक नया संदेश दिया—स्वाधीनता संग्राम के लिए सक्रिय प्रतिरोध और खुले युद्ध का संदेश। स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में चटगांव-प्रकरण देश प्रेम, शौर्य तथा उत्सर्ग की अमर गाथा के रूप में उल्लिखित रहेगा।

5 मई को महात्मा गांधी गिरफ्तार करके जेल में डाल दिये गये। उधर आंदोलन को फलता-फूलता देखकर कारागार में बैठे सुभाष चन्द्र अपार हर्ष का अनुभव कर रहे थे। कलकत्ता में जेल अधिकारियों से एक झड़प के कारण सुभाष, जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त तथा उनके साथी बंदियों को इस कदर लाठियों से पीटा गया कि कई लोग बुरी तरह जख्मी हुए और बहुत-से अचेत हो गये।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट जून, 1930 में प्रकाशित हुई। यह इतनी असंतोषजनक थी कि इसे सभी राजनीतिक पार्टियों ने ठुकरा दिया। कुछ मध्यस्थ आगामी कई महीनों

तक कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के बीच समझौता कराने में लगे रहे, पर वार्ता भी टूट गयी।

कारावास के दौरान ही सुभाष को कलकत्ता का महापौर चुना गया, लेकिन पद ग्रहण वे करीब वर्ष भर बाद रिहा होने पर ही कर सके। अपने पहले महापौरीय भाषण के समय नागरिक प्रगति के क्षेत्र में देशबन्धु के नेतृत्व का स्मरण करके वे भावविह्वल हो उठे। 1924 से 1930 के छह वर्षों के दौरान जब कलकत्ता नगर निगम की सत्ता स्वराजवादी कांग्रेसियों के हाथ में थी, तो कलकत्ता का नागरिक जीवन बेहतर बनाने के लिए कई कार्यक्रम शुरू और पूरे किये गये थे। सुभाष चन्द्र ने इस दिशा में आगामी योजनाएं घोषित कीं।

26 जनवरी, 1931 द्वितीय स्वाधीनता दिवस था। इस अवसर पर, कलकत्ता के महापौर के रूप में, वरिष्ठ अधिकारियों के साथ एक विशाल जुलूस की अगुआई करते और पुलिस की निषेधाज्ञा को चुनौती देते हुए सुभाष चन्द्र बोस ने निगम मुख्यालय से मैदान की ओर कूच किया। जैसे ही उन्होंने एस्प्लेनेड क्षेत्र पार किया, घुड़सवार पुलिस की एक शक्तिशाली टुकड़ी बर्बरतापूर्वक उन पर टूट पड़ी। सुभाष बुरी तरह घायल हुए और गिरफ्तार कर लिये गये। इस प्रकार, उनकी ग्यारह जेल यात्राओं में से एक और अधिक क्रूरता के इस आलम में शुरू हुई। खून से लिथड़े सुभाष के कपड़े अगले दिन एक जनसभा में प्रदर्शित किये गये।

14

प्रथम गोलमेज कांफ्रेंस 1930 के अंत में कांग्रेस की भागीदारी के बिना लंदन में आयोजित हुई। इसका कुल जमा नतीजा था भारत को दो कड़वी गोलियों की पेशकश—सुरक्षण और संघ शैली। लेकिन यह स्पष्ट नहीं था कि तमाम धार्मिक और जातीय सुरक्षण लागू करने के बाद एक उत्तरदायी सरकार बन सकेगी या नहीं। असलियत यह थी कि इंडियन नेशनल कांग्रेस की अनुपस्थिति में भारत-ब्रिटेन के बीच कोई समझौता संभव ही नहीं था। जनवरी 1931 में, लंदन में, लेबर प्रधानमंत्री रैम्ज़े मैकडोनल्ड गोलमेज कांफ्रेंस का समापन कर रहे थे, तो वाइसराय लार्ड इर्विन ने कांग्रेस से सहयोग की सार्वजनिक अपील कर डाली। इसके फौरन बाद महात्मा गांधी तथा कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के सदस्य रिहा कर दिये गये। गांधी जी तथा भारतीय उदारवादियों में मंत्रणाओं का सिलसिला चला। अंततः मध्य फरवरी में गांधी जी दिल्ली में वाइसराय से मिले। एक लंबे वार्तालाप के बाद, मार्च के प्रथम सप्ताह में, गांधी-इर्विन समझौते की रूपरेखा बनी और उसे जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के समक्ष रख दिया गया। यह रूपरेखा स्वीकृत हो गयी। सुभाष चन्द्र तब कलकत्ता में कैद थे। उनके विश्लेषण तथा विवेक के अनुसार समझौते की शर्तें अत्यंत निराशाजनक थीं। जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त के गुट को छोड़ दें तो, तमाम प्रांतों की अपेक्षा, बंगाल में इस समझौते के प्रति सर्वाधिक रोष था।

सुभाष मार्च के प्रारंभ में रिहा हुए। बंगाल के साथी बंदियों की तरह इस समझौते ने मोहभंग तो उनका भी किया था, लेकिन उन्होंने तय किया कि भावी नीति के संबंध में गांधी जी से पूरी तरह और साफ साफ बात किये बिना कोई पक्का फैसला नहीं करेंगे। लिहाजा सीधे बंबई प्रहुंचकर उन्होंने गांधी जी से विशद् विचार-विमर्श किया। गांधी जी ने उन्हें कई आश्वासन दिये। बोले कि द्वितीय गोलमेज कांफ्रेंस में भेजे जानेवाले कांग्रेसी प्रतिनिधिमंडल को ऐसा कोई अधिकार नहीं सौंपा जायेगा जो स्वाधीनता के लक्ष्य के अनुरूप न हो; और यह भी कि गांधी-इर्विन समझौते के दायरे से बाहर रह गये राजनीतिक बंदियों की रिहाई के लिए वे हर संभव प्रयास करेंगे। गांधी जी के साथ ही सुभाष बंबई से दिल्ली रवाना हुए और रास्ते भर दोनों में विचार-विनिमय जारी रहा। यात्रा के दौरान, हर पड़ाव पर, गांधी जी का जो स्फूर्त स्वागत हुआ, उससे वे मुग्ध रह गये और समझ गये कि

जनसाधारण के हृदय पर उनका कैसा वर्चस्व है। लेकिन दिल्ली पहुंचते ही दोनों को इस समाचार ने मानो विस्फोट-विच्छिन्न कर डाला कि सरकार भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी देने जा रही है। प्रबल जन-विरोध तथा गांधी जी के हस्तक्षेप पर वाइसराय सिर्फ सजा को स्थगित करने पर ही राजी हुए। उम्मीद थी कि यह स्थगन बाद में मृत्युदंड के निरसन का रूप ले लेगा, लेकिन मार्च के अंतिम सप्ताह में जैसे ही लोग कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने कराची में जुटने शुरू हुए, तो देश भर में विद्युत गति से यह समाचार फैल गया कि भगत सिंह और उनके साथी फांसी पर चढ़ा दिये गये हैं। देश को अवसाद और संताप ने घेर लिया।

कराची-कांग्रेस के अध्यक्ष वल्लभभाई पटेल थे। सुभाष और उनके पक्षधर वाममार्गियों ने तय किया कि वे वस्तुनिष्ठ भाव से स्थिति पर विचार करने के बाद ही गांधी-इर्विन समझौते के संबंध में अपनी यथार्थपरक नीति निर्धारित करेंगे। अंत में उन्होंने ऐलान किया कि वे गांधी-इर्विन समझौते को स्वीकार नहीं करते, फिर भी इस कठिन समय में वे पार्टी को विभाजित नहीं होने देंगे। विषय समिति में भी सुभाष ने इस आशय का बयान दिया। गोलमेज कांफ्रेंस के लिए मनोनीत प्रतिनिधिमंडल का अधिकार पत्र गांधी जी द्वारा सुभाष को बंबई में दिये गये आश्वासनों के अनुरूप ही निर्धारित किया गया। कराची कांग्रेस में मूल अधिकारों से संबंधित प्रस्ताव पारित होने से सुभाष को खुशी हुई, क्योंकि इससे पार्टी के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्यों को कुछ सार-सौरभ प्राप्त हुआ था। लाहौर की तरह कराची में भी सुभाष और उन जैसे तमाम वाममार्गियों को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति से दूर ही रखा गया।

कांग्रेस-अधिवेशन के साथ ही साथ, भगतसिंह द्वारा स्थापित आल इंडिया नौजवान भारत सभा का अधिवेशन भी हुआ। अध्यक्षता सुभाष चन्द्र बोस ने की। यहां अपने भाषण में सुभाष ने गांधी-इर्विन समझौते का समीक्षात्मक विश्लेषण पेश किया; और एक पारित प्रस्ताव में समझौते की निंदा भी की गयी।

सन् 1928 की कलकत्ता कांग्रेस में, गांधी जी के डोमिनियन होमरूल वाले प्रस्ताव के विरुद्ध स्वाधीनता का प्रस्ताव पेश करते हुए सुभाष ने पहले-पहल संपूर्ण स्वाधीनता की बात उठायी थी, और तब से देश भर में छात्रों, युवाओं तथा राजनीतिज्ञों के सम्मेलनों में वे अनवरत इस विषय पर बोलते आये थे। उनका पक्ष यह था कि हमारे उपनिवेशवाद विरोधी एवं साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का चरम लक्ष्य है—भारतीय विचारधारा और भारतीय पद्धति वाली समाजवादी व्यवस्था की स्थापना।

नौजवान भारत सभा के कराची-अधिवेशन में उन्होंने इस चरम लक्ष्य और उसे साधने के उपायों की स्पष्ट और सीधे शब्दों में व्याख्या की। उन्होंने घोषणा की कि हमारे भावी

राजनिकाय तथा 'सामाजिक-आर्थिक' ढांचे को ''पुरुषार्थ के पोषण तथा चरित्र एवं इच्छाशक्ति के विकास में मददगार होना होगा, ताकि मानव-समाज के सर्वोच्च आदर्श वास्तविकता बन सकें।'' और ''जिन सिद्धांतों को सामाजिक जीवन की आधार-रचना करनी चाहिए, वे हैं न्याय, समानता, स्वतंत्रता, अनुशासन तथा प्रेम... समानता सुनिश्चित करने के लिए हमें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक, हर तरह की गुलामी से छुटकारा पाना होगा...'' सुभाष चन्द्र ने बिना हिचर-मिचर किये उद्घोषणा की : ''मैं भारत में समाजवादी गणतंत्र का इच्छुक हूं... जब तक चरमपंथी अथवा क्रांतिकारी तत्व सक्रिय नहीं होते, हम स्वाधीन नहीं हो सकते और हमारे बीच के क्रांतिकारी तत्व नवसंदेश द्वारा उत्प्रेरित किये बिना सक्रिय नहीं किये जा सकते...'' सुभाष ने खेद प्रकट किया कि कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों पर अस्पष्टता और संकोची मानसिकता की गहरी छाप है। उन्होंने कहा—ये संपूर्ण परिवर्तनवाद पर नहीं, समझौतावाद पर आधारित हैं; जैसे—मकान मालिक और किरायेदार के बीच समझौता, सेठिये और मजदूर के बीच समझौता, तथाकथित उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच समझौता तथा मर्द और औरत के बीच होनेवाला समझौता। अतएव भारत को स्वाधीन करने के लिए उन्होंने अपना कार्यक्रम पेश किया :

1. समाजवादी लक्ष्यानुसार कृषकों और श्रमिकों का संगठन;

2. युवाओं की पूर्णतया अनुशासित स्वयंसेवी कोर का गठन;
3. जातिप्रथा की समाप्ति तथा हर तरह के सामाजिक एवं धार्मिक अंधविश्वासों का उन्मूलन,
4. स्त्रियों द्वारा दैव निर्दिष्ट कर्तव्य को स्वीकार कर नवसमाज-रचना में अपनी नयी भूमिका निर्धारित करने के लिए महिला समितियों का निर्माण;
5. ब्रिटिश उत्पाद के बहिष्कार का प्रभावी कार्यक्रम तथा
6. नये मार्ग और कार्यक्रम के सैद्धांतिक प्रचार के लिए पाठ्य सामग्री की रचना।

हालांकि सुभाष चन्द्र ने गांधी-इर्विन समझौते को निरपवाद रूप से अत्यंत असंतोषकारी और निराशाजनक बताया था, लेकिन शांति-संधि की शर्तें तय करनेवालों की देशभक्ति पर उन्होंने पल भर को भी कभी संदेह नहीं किया। युवाओं से उन्होंने आग्रह किया कि हालात के तकाजे को देखते हुए, देश को मजबूत बनाने और राष्ट्रीय मांग को पूरा करने के लिए वे निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार सकारात्मक कार्य में लग जायें; और कांग्रेसी नेताओं से ऐसा कोई अनावश्यक टकराव मोल न लें जिससे देश कमजोर हो और विरोधी ताकतवर बनें। नौजवानों के समूह से उन्होंने निवेदन किया कि वे दूसरों की आलोचना करते हुए भी संयम और आत्मनियंत्रण बरतें, चूंकि संयत और सुशील बने रहकर वे बहुत कुछ पा तो सकेंगे, खोयेंगे कुछ नहीं।

भारतीय युवाओं के नाम अपने इस महत्वपूर्ण संबोधन का समापन करते हुए सुभाष चन्द्र ने उन्हें इस ऐतिहासिक तथ्य की याद दिलाई कि भारतवर्ष विश्व-प्रासाद की आधारशिला है और स्वाधीन भारत संसार में साम्राज्यवाद के विनाश का मार्ग प्रशस्त करेगा।

15

गांधी-इर्विन समझौते से युवाओं और वामपंथियों को—जिनके दायरे में आमतौर पर क्रांतिकारी और श्रमिक संघ आते थे—पर्याप्त निराशा हुई थी, जबकि भारतीय जनता को यह समझौता गांधी जी की विजय प्रतीत हो रहा था। बंगाल तथा अन्य प्रांतों के क्रांतिकारी बंदियों ने, जिन्हें दिल्ली-समझौते के तहत सत्याग्रही बंदियों की तरह आम माफी में शामिल नहीं किया गया था, सरकार को चिट्ठी तक लिखी कि यह जरूरी नहीं है कि गांधी जी से हुए समझौते के वे भी पाबंद हों। सुभाष चन्द्र को मार्च, 1931 में रिहा होने पर ही इन हालात का पता चला कि कुछ माह बाद बंगाल के गवर्नर स्टेनले जैकसन ने जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त की मार्फत क्रांतिकारियों से सुलह-सफाई की कोशिशि जरूर की, पर निष्फल रही।

कराची-कांग्रेस के बाद सुभाष चन्द्र ने वापसी यात्रा भी गांधी जी के साथ ही की थी और महसूस किया था कि उनकी लोकप्रियता और प्रतिष्ठा बेजोड़ है। अप्रैल में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने गांधी जी को गोलमेज कांफ्रेंस के लिए कांग्रेस का एकमात्र प्रतिनिधि चुना। सुभाष के ख्याल से यह भूल थी, क्योंकि लंदन में ब्रिटिश सरकार द्वारा चुने तरह तरह के गुमनाम, स्वयंनियुक्त नेताओं तथा सांप्रदायिक तत्वों की व्यूह-रचना के समक्ष वे अकेले पड़ जाते और उन्हें समर्थन जुटानेवाला कोई न होता। उधर गांधी जी ने इस फैसले के ऐन बाद बयान दिया कि गोलमेज कांफ्रेंस में उनका जाना इस पर निर्भर करेगा कि हिंदू-मुस्लिम-समस्या सुलझाने की उनकी योग्यता कितनी है। सांप्रदायिक तत्वों ने इस बयान का फायदा उठाया और मुहम्मद अली जिन्ना ने अपनी कुख्यात 'चौदह शर्तें' पेश कर दीं। उसी शाम गांधी जी से मिलने पर सुभाष ने पाया कि वे बड़े खिन्न हैं और महसूस कर रहे हैं कि जिन्ना की मांगों के आधार पर समझौता असंभव है। सुभाष ने उन्हें यह राय दी कि कांग्रेस को राष्ट्रवादी हिंदुओं तथा राष्ट्रवादी मुसलमानों में समझौता कराने की कोशिश करनी चाहिए और यह परवाह किये बिना कि राष्ट्रविरोधी तत्व क्या सोचते और करते हैं, ब्रिटिश सरकार के समक्ष इस समझौते को राष्ट्रीय मांग के रूप में रख देना चाहिए। गांधी जी ने साफ साफ पूछा कि (संप्रदायानुसार) अलग अलग निर्वाचनमंडलों पर उन्हें क्या आपत्ति है। सुभाष ने स्पष्टतम शब्दों में जवाब दिया कि भिन्न भिन्न निर्वाचनमंडल राष्ट्रवाद के मूलभूत सिद्धांतों के विरुद्ध हैं और इस आधार पर मिला स्वराज भी उनके

लिए अग्राह्य होगा।

अप्रैल में ही सुभाष चन्द्र को यह पक्की सूचना मिली कि ब्रिटिश सरकार हर तरह से कोशिश करेगी कि गोलमेज कांफ्रेंस के प्रारंभ में ही गांधी जी को मामूली और विवादास्पद मुद्दों में उलझा दिया जाये और संपूर्ण स्वाधीनता जैसा प्रमुख प्रश्न एक किनारे पड़ा रह जाये। ब्रिटिश सरकार का खयाल था कि भारतीय जन ऐसे ही टोटकों से आपस में लड़ते रहेंगे और एकजुट मोर्चा लेने की स्थिति में नहीं आयेंगे। सुभाष ने गांधी जी को यह सब बता दिया। उन्होंने जवाब दिया कि लंदन पहुंचकर सबसे पहला काम वे यह करेंगे कि महत्वपूर्ण समस्याओं पर ब्रिटिश रवैये की टोह लें, और अगर वे उनके रवैये से संतुष्ट न हुए तो अपना दौरा उसी क्षण, वहीं खत्म कर देंगे। उसी महीने लार्ड इर्विन से कट्टर साम्राज्यवादी लार्ड विलिंग्डन ने वाइसराय पद संभाला। उसके आते ही अफसरशाही का रुख कड़ा हो गया और वह गांधी-इर्विन समझौते की शर्तें तोड़ने लगी। गुजरात, संयुक्त प्रांत तथा बंगाल में परिस्थितियां विशेष रूप से असंतोषजनक थीं। बंगाल में मुकदमा चलाये बिना लोगों को जेलों में डालने का सिलसिला जारी था, जबकि रिहाई एक भी नहीं हुई। षड्यंत्रों के मुकदमे भी हस्बे-मामूल चलते रहे। दिल्ली-संधि के उल्लंघनों की बाबत एक अभियोग पत्र गांधी जी ने खुद भारत सरकार के गृह सचिव को दिया। वाइसराय से भी उनकी लंबी बातचीत हुई। लेकिन आम हालात में कोई खास सुधार नहीं हुआ। अगस्त में, ऐन आखिरी मौके पर गांधी जी और वाइसराय में जैसे तैसे एक अधमना-सा समझौता हुआ और गांधी जी इंग्लैंड रवाना हो गये।

इंग्लैंड में गांधी जी करीब ढाई महीने रहे। ब्रिटिश सरकार ने उलटा पांसा फेंककर उन्हें अल्पसंख्यकों की समस्या तथा भारत के भावी ढांचे के स्वरूप जैसे सवालों में फंसा ही लिया। आकस्मिक नहीं कि सांप्रदायिक मसले पर किसी भी समझौते पर पहुंचने की हर संभव कोशिश बेकार गयी, चूंकि अल्पसंख्यक समिति के सदस्य खुद ब्रिटिश सरकार के चुने हुए थे। सुभाष चन्द्र बोस और उनके साथियों ने वरिष्ठ नेताओं के दिल्ली घोषणा पत्र के विरोध में, नवंबर, 1929 में जो घोषणा पत्र जारी किया था, उसमें ऐसी कांफ्रेंसों के ऐसे ही परिणामों की अपेक्षा की गयी थी। सुभाष का मत था कि गांधी जी यदि अंग्रेजों के चहेते चुने हुए अल्पसंख्यक सदस्यों की शरारती चालों की काट में समर्थ, मुस्लिम तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के राष्ट्रवादी प्रतिनिधियों के दल-बल से लैस होकर लंदन जाते, तो नतीजों में जमीन-आसमान का अंतर आ गया होता। ब्रिटिश सरकार के आशीर्वाद से अल्पसंख्यकों के तथाकथित प्रतिनिधियों ने एक अल्पसंख्यक-समझौता—माइनार्टीज पैक्ट—तैयार किया, जिसमें दलितों के लिए आरक्षित सीटों का ही नहीं, अलग निर्वाचनमंडलों का भी प्रावधान था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने दावा किया कि माइनार्टीज पैक्ट भारत के 15 करोड़

(अल्पसंख्यक) लोगों को स्वीकार्य है, और गांधी जी के स्टैंड को गलत बताते हुए कहा कि सांप्रदायिक समस्या सुलझाने में हमारी असफलता भारत के सम्मत संविधान की प्रगति में बाधक बन रही है। गांधी जी ने प्रधानमंत्री के दावों को दृढ़ चुनौती देते हुए कहा कि कांग्रेस भारत की 85 प्रतिशत आबादी का प्रतिनिधित्व करती है। नवंबर में हुई कांफ्रेंस के महाधिवेशन में गांधी जी का भाषण बेमिसाल था, पर उससे यह भी साफ हो जाता था कि अब उनके सारे भ्रम टूट चुके हैं।

सुभाष चन्द्र का मत था कि महात्मा गांधी की लंदन यात्रा की योजना ही त्रुटिपूर्ण थी और उनके दल में अच्छे तथा उपयुक्त सलाहकार नहीं थे। वे यह भी मानते थे कि उन्हें 1930 में वहां जाना चाहिए था, क्योंकि तब वह अंग्रेजों से बेहतर शर्तें मनवा सकते थे। समझौते की आखिरी उम्मीद भी अक्तूबर में टोरियों के पुनः सत्तासीन होने के बाद खत्म हो गयी थी।

सुभाष चन्द्र को इसका भी अफसोस था कि गांधी जी की विदेश यात्रा का इस्तेमाल भारतीय स्वाधीनता के मामले को अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक समस्या के तौर पर उठाने के लिए नहीं किया गया। उनका खयाल था कि गांधी जी का उन लोगों से संपर्क कराने की कोशिश ही नहीं की गयी, जो यूरोपीय राजनीति में सचमुच माने रखते हैं; और यह भी कि महाद्वीप में उन्होंने बहुत कम समय गुजारा।

गांधी जी 1931 के अंतिम दिन भारत लौटे और मातृभूमि पर उनका उत्साह और हार्दिकता भरा स्वागत हुआ। उनकी अनुपस्थिति में सरकार ने नृशंसतापूर्ण दमन नीति को अमल में लाने की एक गजब की योजना बनायी थी। उधर युवा और श्रमिक संगठन, जो शुरू से ही गांधी-इर्विन-समझौते की भर्त्सना करते आये थे, भविष्य में संघर्ष छेड़ने के लिए अपने अभियान विषयक लक्ष्यों का जायजा लेते रहे। मई में सुभाष चन्द्र ने संयुक्त प्रांत में नौजवान भारत सभा के प्रांतीय सम्मेलन की अध्यक्षता की। जुलाई में कलकत्ता में वे आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस के अधिवेशन के अध्यक्ष बने, जहां दिल्ली-समझौता एक बार फिर नामंजूर किया गया। सरकारी दमन से क्रुद्ध बंगाल के क्रांतिकारियों ने, जवाब में, चटगांव-शस्त्रागार कांड का अनुसरण करते हुए आतंकवादी गतिविधियों का एक सिलसिला कायम कर दिया। इस पर सरकार अपनी आतंक नीति में तेजी ले आयी और उसने कई जिलों में अघोषित सैनिक शासन ही लागू कर दिया। इस तरह, सरकारी दमन, (जवाब में) क्रांतिकारी आतंकवाद और (उसके जवाब में) राजशक्ति के प्रत्यांतक का एक दुश्चक्र ही चल पड़ा। यहां तक कि गांधी-इर्विन युद्ध विराम के दौरान भी कुछ क्रांतिकारी बंदियों को मृत्युदंड सुनाकर फांसी दे दी गयी। दिसंबर में आयोजित बंगाल के राजनीतिक सम्मेलन में भी वामपंथियों के इस दृष्टिकोण की पुष्टि की गयी कि सरकार ने संधि की

शर्तें तोड़ी हैं, इसलिए कांग्रेस को सविनय अवज्ञा आंदोलन फिर से शुरू कर देना चाहिए। उत्तर-पश्चिम के सरहदी सूबे—फ्रंटियर—में सरकार खान अब्दुल गफ्फार खान के अनुयायी लालकुरती स्वयंसेवकों पर बुरी तरह टूट पड़े। संयुक्त प्रांत होकर आये एक ब्रिटिश समाजवादी लेखक ब्रेल्सफर्ड ने सुभाष चन्द्र को बताया कि वहां की स्थिति किसान-क्रांति के मुहाने पर है।

भारत लौटने के तुरंत बाद महात्मा गांधी ने वाइसराय लार्ड विलिंग्डन को पत्र लिखा कि सरकार अपने सही रुख को स्पष्ट करे। वाइसराय का जवाब नकारात्मक एवं अमैत्रीपूर्ण था। तब कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पारित किया, जो वाइसराय को अस्वीकार्य लगा और उसने गांधी जी से मिलने से ही इनकार कर दिया। अब सविनय अवज्ञा आंदोलन दोबारा शुरू करने के सारे कारण मौजूद थे।

16

जनवरी, 1932 के पहले हफ्ते में सरकार ने सारे देश में कांग्रेस तथा अन्य राष्ट्रीय संगठनों के खिलाफ मुहिम छेड़ दी। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस समेत नेताओं को थोक में गिरफ्तार कर लिया गया। सन् 1930 में गांधी जी ने नागरिक प्रतिरोध के अपने अनूठे तरीके से सरकार को हक्का-बक्का कर दिया था, लेकिन 1931 के दौरान सरकार ने स्वयं को नागरिक अवज्ञा से निपटने में सक्षम बना लिया था। साल के पहले चार महीनों में 80 हजार से ज्यादा लोग गिरफ्तार किये गये, कांग्रेस के विभिन्न संगठन गैरकानूनी घोषित कर दिये गये तथा लाठीचार्ज, अंधाधुंध फायरिंग, सामूहिक जुर्माने, जमीन-जायदाद की जब्ती, राष्ट्रवादी अखबारों की जबान बंद करने, बड़े पैमाने पर तलाशियां लेने और डराने-धमकाने जैसे नृशंसता भरे दमनकारी उपाय आजमाये जाने लगे। जेलों में भी राजनीतिक बंदियों को बेड़ियां पहनाने, राजा को भी हथकड़ियां लगाने और बारदाने के वस्त्र पहनाने जैसे बर्बर दंड दिये गये। भारतीय जनता ने शौर्यपूर्वक प्रतिरक्षी संघर्ष किया, लेकिन इस बार वह प्रतिकूल अवस्था में थी, क्योंकि शत्रु पूरी तरह तैयार था और एकदम निष्ठुर।

जनवरी, 1932 में, गिरफ्तारी के बाद सुभाष चन्द्र को मध्य प्रांत के एक अनजान स्थान सिवनी की छोटी-सी जेल में रखा गया। वहां, जल्द ही कलकत्ता के नामी वकील, वरिष्ठ कांग्रेसी और कलकत्ता नगर निगम के एल्डरमैन, भैया शरत्चन्द्र भी उनसे आ मिले। छुटपन से ही सुभाष अपने इस भाई और भाभी विभावती के स्नेह के विशेष पात्र रहे थे। जीवन की प्रत्येक दुविधा-संकट में सलाह, समर्थन एवं मार्गदर्शन के लिए सुभाष ने शरत् का ही मुंह ताका था, और अब वे भारतीय स्वतंत्रता के लिए साथ साथ कष्ट सहने को कारावास के साथी बन बैठे थे। विचारधारा, देशसेवा और कष्ट-सहन के संदर्भ में भाइयों की मैत्री का ऐसा उदाहरण विश्व-राष्ट्रों के इतिहास में बिरला ही होगा।

अगस्त, 1932 में ब्रिटिश सरकार ने संप्रदाय आधारित पंचाट—तथाकथित कम्यूनल अवार्ड—का एलान किया, जिसमें दलित वर्गों तथा अन्य राष्ट्रस्तरीय अल्पसंख्यकों के लिए विधानमंडलों में सीटों के आरक्षण एवं—उफ!—पृथक निर्वाचनमंडलों का प्रावधान था। महात्मा गांधी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर सूचित किया कि वे संप्रदाय आधारित

निर्वाचनमंडलों के सवाल पर, अपने मत-सिद्धांत के अनुरूप, आमरण अनशन करने जा रहे हैं, क्योंकि पंचाट में दी गयी रियायतें इन वर्गों को हिंदू मुख्यधारा से उलीच फेंकने का कारण बन जायेंगी। इस समाचार ने समूचे राष्ट्र को उत्कंठित और भयभीत कर दिया। और जब पुणे जेल की अपनी कोठरी में उन्होंने अनशन शुरू किया, तो हर वर्ग से अपीलें की जाने लगीं कि वे अनशन वापस ले लें। बंबई में विभिन्न मतावलंबी हिंदू नेताओं की एक बैठक हुई, जिसमें लंबी मंत्रणाओं के बाद पृथक निर्वाचनमंडलों को न अपनाने का फैसला किया गया। इस बार—पुणे-संधि—की तरफ जब ब्रिटिश सरकार का ध्यान दिलाया गया तो उसके पास इसे अनुमोदनार्थ पार्लियामेंट को भेजने के अलावा कोई चारा ही नहीं था। गांधी जी ने अनशन तोड़ दिया।

सन् 1930 की भांति 1932 में भी सुभाष जेल के सींखचों के पीछे से सब कुछ घटित होते देखते रहे। गांधी जी के अनशन को लेकर उमड़े भावात्मक ज्वार और देशवासियों द्वारा उनके प्राण बचाने की स्वाभाविक व्यग्रता में भारत की स्वाधीनता के मूल प्रश्न को एक बार फिर किनारे कर देने पर वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठे। उन्हें साफ साफ यह लगा कि इस बार ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस को मात दे दी है। वर्ष का अंत आते आते कांग्रेसी सविनय अवज्ञा को भूलकर अस्पृश्यता-विरोधी अभियान तथा मंदिर-प्रवेश विधेयक जैसी चीजों में रमे रहने लगे। ऐसे एंटीक्लाइमेक्स से सुभाष बेहद खिन्न थे।

सिवनी सब-जेल में दोनों भाइयों का स्वास्थ्य तेजी से गिरने लगा। अतः वे जबलपुर सेंट्रल जेल भेज दिये गये। वहां से सुभाष को जाहिर तौर पर निदान और उपचार के लिए जगह जगह स्थानांतरित किया जाने लगा—पहले मद्रास, फिर भुवाली, और फिर लखनऊ; लेकिन न तो उनके रोग का पता चला, न ही कोई इलाज कारगर साबित हुआ। बर्मा-निर्वासन की भांति इस बार भी वह हड्डियों का ढांचा बन गये। शरत् की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी विभावती दिल्ली में सरकार के द्वार खटखटाती रहीं। अफसरों का रवैया उन्हें अत्यंत वैमनस्यपूर्ण लगा। अंत में यह फैसला हुआ कि उपचार और आरोग्य के लिए सुभाष को यूरोप भेज दिया जाये, जबकि ब्रिटिश सरकार उन्हें अपने रुग्ण और वृद्ध माता-पिता को देख आने के लिए भी छोड़ने को राजी नहीं थी। उनके विदेश गमन और उपचार-व्यय की जिम्मेदारी से भी सरकार मुकर गयी।

यूरोप प्रस्थान करने से पहले कुछ समय के लिए उन्हें वापस जबलपुर जेल भेज दिया गया था, जहां उनके भैया भी थे। परिवार के कुछ सदस्य और देशबन्धु की विधवा वासंतीदेवी उन्हें विदा देने वहीं पहुंचे; और 13 फरवरी, 1933 को इतालवी जलपोत गैंजी से उन्हें बलात प्रवास पर यूरोप भेज दिया गया।

मार्च, 1933 में सुभाष विएना पहुंचे। वहां उन्हें बड़े योग्य चिकित्सक मिले और उनका

संतोषजनक इलाज होने लगा। जरा-सा ठीक होते ही वे भारतीय स्वाधीनता के मिशन को आगे बढ़ाने के लिए, यूरोपीय राजनीति में बढ़-चढ़कर रुचि लेने लगे और समाज के हर क्षेत्र में, हर स्तर पर मेलजोल पैदा करने लगे। भारत के कौमी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंतर्राष्ट्रीय समर्थन जुटाने के मामले में विट्ठलभाई पटेल उनके सजातीय एवं पक्षधर थे।

इधर, स्वदेश में, देश के विभिन्न क्षेत्रों में बहुत से कांग्रेसी सविनय अवज्ञा आंदोलन को पुनः पटरी पर लाने की कोशिशों में जुटे हुए थे। जनवरी में कई जगहों पर स्वाधीनता दिवस बड़े जोश से मनाया गया था। मार्च-मध्य में ब्रिटिश सरकार ने सांविधानिक संशोधनों के प्रस्ताव मूर्त करते हुए एक श्वेतपत्र जारी किया। इसके ऐन बाद अप्रैल में कलकत्ता में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन बुलाने का ऐलान हुआ। इस पर सरकार ने अभी तक आजाद शेष नेताओं को भी गिरफ्तार कर लिया, जिनमें अधिवेशन के निर्वाचित अध्यक्ष पंडित मदनमोहन मालवीय भी थे। स्थानापन्न अध्यक्ष श्रीमती जतीन्द्रमोहन सेनगुप्त को अधिवेशन-स्थल पर गिरफ्तार किया गया। यहां श्वेत पत्र को रद्द और नामंजूर करनेवाला कांग्रेस का प्रस्ताव सबसे महत्वपूर्ण था। राष्ट्रीय भावना को उपयुक्त वाणी देते हुए निर्वाचित अध्यक्ष मालवीय जी ने कहा कि 15 महीनों में सरकार कांग्रेस को नहीं कुचल सकी; और 15 महीनों से दुगुना समय लेकर भी वह ऐसा नहीं कर पायेगी। लेकिन मई की एक सुबह जब यह खबर मिली कि गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया है, तो सारा देश भौंचक रह गया। उस दौरान भी वे अनशन पर थे, इसलिए उनकी घोषणा पर शांत और तटस्थ निर्णय भी स्थगित हो गया, अलबत्ता ब्रिटिश सरकार ने कोई उचित प्रतिदान नहीं किया। उसने दमनकारी अध्यादेश वापस लेने या राजनीतिक बंदियों को रिहा करने से इनकार कर दिया। विएना से, एक संयुक्त बयान के जरिए, सुभाष चन्द्र बोस और विट्ठलभाई पटेल ने कड़े शब्दों में गांधी जी के फैसले की आलोचना की। उन्होंने कहा कि इस फैसले ने पिछले तेरह वर्षों के सारे श्रम और त्याग पर पानी फेर दिया है। दोनों ने नीति और नेतृत्व को और अधिक परिवर्तनवादी बनाने पर बल दिया। राष्ट्रीय नीति के मामले में सुभाष हमेशा ही, गांधी जी एवं अन्य वरिष्ठ नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा तथा सराहना के बावजूद, अतिशय स्पष्ट और दो टूक अंदाज में बात करते थे। फिर भी बहुतेरों को लगा कि अनशनरत गांधी जी की आलोचना करना निर्लज्जतापूर्ण है।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगन के बाद सुभाष चन्द्र को लंदन में इंडियन पोलिटिकल कांफ्रेंस की अध्यक्षता करने का निमंत्रण मिला। ब्रिटिश सरकार ने चालाकी से काम लेते हुए उन्हें सिर्फ दो यूरोपीय देशों के लिए वीजा दिया--इटली और आस्ट्रिया। इसलिए कि वे ब्रिटेन सहित किसी और देश का रुख न कर सकें। अतः उन्होंने अपना अध्यक्षीय भाषण अपनी अनुपस्थिति में पढ़ देने के लिए लंदन भेज दिया। यह भाषण उनके

आधारभूत लेखों में गिना जाता है, और यह दिखाता है कि राजनीतिक तैयारी की दृष्टि से अब वे कहीं आगे निकल चुके थे—अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष की रणनीति बनाने के मामले में भी; और भारतीय क्रांति के परम उद्देश्य, जिसे उन्होंने 'साम्यवाद' बताया था, को रेखांकित करने की दिशा में भी। भारत की भवितव्यता में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा :

"...सत्रहवीं शताब्दी में सांविधानिक एवं लोकतंत्री सरकार के विचार से इंग्लैंड ने विश्व-सभ्यता को उल्लेखनीय योगदान दिया। इसी तरह अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस से विश्व-संस्कृति को सबसे अनूठा योगदान मिला—'स्वाधीनता, समता और बंधुता' के उसके विचारों की बदौलत। उन्नीसवीं शताब्दी में मार्क्सवादी दर्शन के जरिये सर्वाधिक अनुपम भेंट दी जर्मनी ने। बीसवीं शताब्दी में विश्व-सभ्यता और संस्कृति को रूस ने मालामाल किया—सर्वहारा क्रांति, सर्वहारा प्रशासन तथा सर्वहारा संस्कृति विषयक अपनी उपलब्धियों से; और अब, विश्व-सभ्यता और संस्कृति को अगला अपूर्व उपहार देने के लिए गुहारा जायेगा भारतवर्ष को।"

17

यूरोप में अस्थायी निवास के दौरान सुभाष चन्द्र ने भारतीय राष्ट्रीयता के गैरसरकारी दूत की भूमिका अपना ली। यह कार्य शुरू तो उन्होंने आस्ट्रिया में किया था, मगर इसका दायरा चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, हंगरी, इटली, स्विट्ज़रलैंड, जर्मनी और फ्रांस आदि अन्य यूरोपीय देशों तक फैल गया। ब्रिटिश सरकार उन्हें हर हालत में जर्मनी और इंग्लैंड से दूर रखना चाहती थी, क्योंकि इन दोनों देशों में भारतीय विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में उच्चस्तरीय तकनीकी प्रशिक्षण ले रहे थे और सरकार को यह शंका थी कि सुभाष इन देशों के छात्र समुदाय को अपने परिवर्तनवादी एवं सैन्यवादी विचारों से प्रभावित करके राष्ट्रीय आंदोलन में उतार लेगा।

सुभाष चन्द्र ने इन यूरोपीय देशों के राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, बौद्धिक वर्ग में भी मेलजोल बढ़ाया—जैसे साहित्यकार, अर्थविद्, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र के स्त्री-पुरुष। यूरोपीय विद्वानों और लेखकों से उनकी चिट्ठी-पत्री भी होती रही। जगह जगह जाकर उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन, इतिहास, सभ्यता और संस्कृति पर व्याख्यान दिये। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय संघर्ष के लिए उन्होंने इन सभी देशों के सभी वर्गों से नैतिक समर्थन मांगा। विएना में सुभाष ने 'आस्ट्रिया-भारत संघ' की स्थापना की। चेकोस्लोवाकिया के गरम खनिजीय झरनों में अपना इलाज करने के साथ साथ उन्होंने उपयोगी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक संपर्क भी बनाये। प्राग जाकर उन्होंने तत्कालीन चेक विदेशमंत्री एडुअर्ड बेंस से महत्वूपर्ण राजनीतिक विचार-विमर्श किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, चेकोस्लोवाकियाई स्वाधीनता को समर्पित संस्था 'चेकोस्लोवाक लीजन' के चेकोस्लोवाकिया से बाहर स्थापन एवं संगठन की बारीकियों और विशेषताओं को समझने में सुभाष ने विशेष रुचि ली। 'चेकोस्लोवाकिया-भारत समिति' के गठन में भी उन्होंने प्रमुख भूमिका निभाई तथा 1934 में उसके उद्‌घाटन-समारोह में भाषण भी दिया। पोलैंड में उन्होंने भारतीय उद्देश्य के प्रति बेहद सहानुभूति महसूस की तथा पोलिश मित्रों को उन्होंने भी भारत के स्वाधीनता संघर्ष में रुचि लेने के लिए प्रेरित किया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, पोलैंड को रूस के प्रभुत्व से मुक्त कराने के लिए जापान में 'पोलिश लीजन' के सैन्य प्रशिक्षण का भी उन्होंने बड़ी सतर्कता से अध्ययन किया।

सुभाष चन्द्र के यूरोप-प्रवास के दिनों में ही, हिटलर और नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के सत्तारूढ़ होने के बाद जर्मनी यूरोपीय राजनीति का केंद्र बन गया था। दक्षिण में, मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली शक्तिशाली होता जा रहा था तथा भूमध्यसागरीय क्षेत्र में ब्रिटेन की चौधराहट के लिए खतरा बनने लगा था। गोलमेज कांफ्रेंस के बाद, इंग्लैंड से स्वदेश लौटते हुए गांधी जी का मुसोलिनी ने रोम में अत्यंत उत्साहपूर्ण स्वागत किया था। बर्लिन की इंडो-जर्मन सोसायटी ने सुभाष चन्द्र के लिए जर्मन विदेश विभाग के अधिकारियों से विचार-विनि¯य का प्रबंध किया था। लेकिन यह विचार-विनिमय आगे नहीं बढ़ सका, क्योंकि नेशनल सोशलिस्ट पार्टी के प्रबल तत्व भारतीय राष्ट्रवादियों की ब्रिटिश सरकार से चल रही लड़ाई में तटस्थ रहना ही पसंद करते थे; तथा ब्रिटेन के प्रति हिटलर का रुख दुविधापूर्ण था और उपनिवेशों के पराधीन लोगों के प्रति प्रतिक्रियापूर्ण। लेकिन पार्टी के कुछ असंतुष्ट गुट ब्रिटेन के विरुद्ध उपनिवेशों और पराधीन लोगों के साथ मिलकर मोर्चा जमाने के हिमायती थे। इन गुटों ने सुभाष चन्द्र को आश्वासन दिया कि वे बंगाल के क्रांतिकारी संगठनों को गुप्त रूप से सहायता देंगे। सुभाष चन्द्र ने जर्मनी में जीविकोपार्जन करनेवाले भारतीयों से भी संपर्क स्थापित किया। इनमें से कुछ ने जर्मन विदेश विभाग के सहयोग से भारत में बगावत फैलाने का प्रयास किया था और प्रथम विश्वयुद्ध के दिनों से ही राजनीतिक निष्कासन भुगत रहे थे। कुछ जर्मन समाजवादियों के साथी थे, बाकी थे भारत से नये नये आये युवा छात्र। इस अंतिम वर्ग के मार्गदर्शक थे, ए.सी.एन. नांबियार, जिन्होंने इंडियन नेशनल कांग्रेस की ओर से बर्लिन में इंडिया इंफार्मेशन ब्यूरो की स्थापना की थी।

आधिकारिक सूत्रों से हुए विचार-विमर्श के निष्फल सिद्ध होने पर सुभाष चन्द्र ने भारत संबंधी प्रचार के लिए प्रेस विज्ञप्तियां जारी करने, व्याख्यान देने तथा लिखने-पढ़ने वाले लोगों से मेलजोल बढ़ाने की ओर ज्यादा ध्यान देना शुरू कर दिया। म्यूनिख की जर्मन अकादमी के निदेशक फ्रांत्स ठायरफेल्डर से सुभाष की अंतरंग मित्रता हो गयी और दोनों ने भारत-जर्मन सहकार का एक कार्यक्रम भी तैयार किया। लेकिन सरकारी हलकों ने इसमें कोई रुचि नहीं ली। यूरोप से भारत रवाना होते समय, मार्च, 1936 में, नात्सी जर्मनी के प्रति सुभाष चन्द्र ने इन शब्दों में अपनी खीझ और निराशा व्यक्त की थी :

"म्यूनिख में हाल ही में दिया हिटलर का हर भाषण नात्सी दर्शन का सार प्रस्तुत करता है... जिसका वैज्ञानिक आधार बड़ा दुर्बल है। मैं यह बता देना चाहता हूं कि यूरोप और एशिया में आपसी अमन-चैन हो ही नहीं सकने की बात करना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत है। जर्मनी का नया राष्ट्रवाद स्वार्थपरता तथा जातीय हेकड़ी से अभिप्रेरित है... जब हम विश्व के सबसे बड़े साम्राज्य से अपनी आजादी और अधिकारों के लिए लड़ रहे हों... तो किसी भी राष्ट्र द्वारा अपमान या अपनी प्रजाति और संस्कृति पर

आक्रमण नहीं सह सकते।"

कुछ वैध ऐतिहासिक कारणों से इटली में सुभाष की बेहद रुचि थी। बंटे हुए लोगों ने किस तरह राष्ट्रीय एकता और अंत में राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करके समेकित राष्ट्रीय प्रशासन की स्थापना की, भारतीय स्वाधीनता सेनानियों के लिए इसका बड़ा महत्व था। सुभाष चन्द्र ने इतालवी स्वाधीनता संग्राम रीसोरजिमेंटो[1] के पूर्ववर्ती, भूमिगत क्रांतिकारी तंत्र कार्बोनारी[2] के संगठन-वृत्तांत का बड़ी चौकसी से अध्ययन किया। यूरोप में अपने मित्रों और भारतीय छात्रों से बातचीत के दौरान वह अक्सर इटली के लोगों को एक करके उनमें स्वाधीनता तथा गणतंत्र की चेतना फूंकनेवाले 'तरुण इटली' के रचनाशिल्पी मात्सीनी[3] की चर्चा कर बैठते। वस्तुतया भारतीय एकता और स्वाधीनता के लिए एक छोटे-से, लेकिन सुसंगठित क्रांतिकारी सैन्याग्र की स्थापना करनेवाले सुभाष चन्द्र बोस तथा मात्सीनी में कई ऐतिहासिक समानताएं मिलती हैं। यूरोप में अपने मित्रों से उन्होंने कहा कि नयी, दृढ़ राष्ट्रीय चेतना के पूर्वगामी केवल युवा हो सकते हैं—जो पुकारते ही देशहित में सर्वस्व त्यागने की प्रेरणा और प्रशिक्षण से लैस हों। रोम में एक बार सुभाष चन्द्र का मुसोलिनी से बड़ा रोचक वार्तालाप हुआ। मुसोलिनी ने पूछा, "क्या आपको विश्वास है कि भारत शीघ्र स्वाधीन हो जायेगा।" सुभाष ने दृढ़ता से कहा, "हां।" इस पर मुसोलिनी ने पूछा कि आपकी आस्था स्वाधीनता प्राप्ति की संशोधनवादी प्रणाली में है या क्रांतिकारी प्रणाली में। सुभाष ने कहा कि वे क्रांतिकारी प्रणाली के पक्षधर हैं। मुसोलिनी बोला, "तब तो आपको उम्मीद भी रखनी चाहिए।"

सुभाष चन्द्र को तुर्की के प्रति भी बड़ी जिज्ञासा थी, जहां मुस्तफा कमाल अतातुर्क[4] के नेतृत्व में आधारभूत परिवर्तन हुए थे और देश एकसूत्र हो गया था। उन्हें लगता था कि भारत तथा तुर्की की बहुत-सी समस्याएं एक जैसी हैं और दोनों देशों में बहुत-से एक जैसे सुधार लागू हो सकते हैं। देश के आधुनिकीकरण के लिए जो सांस्कृतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक समाधान तुर्की के लिए आवश्यक साबित हुए थे, उनमें से कुछ को वे भारत

---

1. उन्नीसवीं शताब्दी। शाब्दिक अर्थ अंग्रेजी शब्द रीसरेक्शन या रीसर्जेंस और हिंदी के पुनरुत्थान से मिलते-जुलते। इतालवी राष्ट्र की स्थापना का श्रेय रीसोरजिमेंटो को ही जाता है।
2. 1811 में गठित। उद्देश्य था इटली में एकता और गणतंत्र की स्थापना। कार्बोनारी नाम का उद्भव कार्बन श्रमिकों की बैठक और ठेठ उनकी भाषा—जार्गत—से हुआ माना जाता है। यूरोप में चारकोल बर्नर्स के रूप में विख्यात ये श्रमिक लकड़ी का कोयला बनानेवाली भट्टियों में काम करते थे।
3. जूसेप मात्सीनी, क्रांतिकारी, 1805-72.
4. पश्चिम में ज्यादातर कमाल अतातुर्क के नाम से उद्धृत, 1881-1938. जनरल और तुर्की के प्रथम राष्ट्रपति (1923-38)। मुस्तफा कमाल तथा कमाल पाशा के नाम से भी प्रसिद्ध।

में भी लागू करना चाहते थे। खास तौर पर वे यह समझना चाहते थे कि कमाल अतातुर्क ने जर्मनी से प्राप्त तकनीकी तथा सैन्य कौशल के जरिये एक प्राच्य देश को किस प्रकार आधुनिक बनाया।

भाषाई सुधार की दिशा में जिस एक उपाय से सुभाष अत्यंत प्रभावित थे, वह था संपूर्ण तुर्क जनता को एक सूत्र में पिरोने के लिए अनेक प्रचलित देशज लिपियों की जगह एकमात्र ेमन लिपि का अंगीकरण। तुर्की संबंधी खोजबीन और अध्ययन के परिणामस्वरूप सुभाष कमाल अतातुर्क के जबरदस्त प्रशंसक बन गये।

वर्ष 1934 के अंत में उन्हें खबर मिली कि पिता जानकीनाथ की स्थिति गंभीर है। परिजनों ने कहा कि पिता के अंतिम दर्शनों के लिए वे हवाई जहाज से चले आयें। तुरंत वे भारत लौट पड़े, लेकिन डेढ़ दिन लेट पहुंचे। पिता बेटे को देख पाने की इच्छा लिये लिये ही परलोकगमन कर गये थे। कलकत्ता पहुंचते ही सुभाष को एलगिन रोड वाले अपने घर में नजरबंद कर लिया गया। करीब महीने भर तक प्रायः बंदी बने वे वहीं पड़े रहे। जनवरी, 1935 के शुरू में वे यूरोप लौटे और दोबारा अपने इलाज और भारत संबंधी काम में लग गये।

18

यूरोप प्रवास के दौरान सुभाष चन्द्र ने अपनी वृहद कृति 'द इंडियन स्ट्रगल' का प्रथम और प्रमुख खंड लिख डाला था। इसे पूरा करने में उन्हें साल भर से कुछ ऊपर लगा, और इस दौरान उनका स्वास्थ्य कतई संतोषजनक नहीं था। उस पर भी वह पुस्तक—जो ऐतिहासिक आख्यान थी—लिखते समय पर्याप्त संदर्भ-सामग्री उपलब्ध नहीं थी और अपनी स्मृति पर ही बेहद बोझ डालना पड़ा था। वह पुस्तक जनवरी, 1935 में, लंदन से प्रकाशित हुई। भारत की ब्रिटिश सरकार ने बिना वक्त गंवाये लंदन में भारत-सचिव से मंजूरी लेकर पुस्तक के भारत में उपलब्ध होने पर रोक लगा दी। दलील थी कि यह पुस्तक ''आतंकवादी तौर-तरीकों तथा सीधी कार्रवाई को प्रोत्साहन देती है।''

यह अनुमान का ही विषय है कि भारतीय पाठकों पर इसने क्या प्रभाव डाला होता।

अलबत्ता, ब्रिटेन में इसकी खासतौर पर प्रशंसा हुई और यूरोप के राजनीतिक एवं साहित्यिक क्षेत्रों में खूब गर्मजोशी से इसका स्वागत किया गया। इंग्लैंड के 'मैनचेस्टर गार्जियन' ने लिखा : ''किसी भारतीय राजनीतिज्ञ द्वारा भारतीय राजनीति पर अभी तक लिखी गयी यह संभवतया सर्वाधिक रोचक पुस्तक है... बेशक इसका महत्व इसलिए बेहद बढ़ जाता है कि लेखक भारतीय राजनीति की तीन सबसे दिलचस्प विभूतियों में सबसे कम उम्र है... पिछले चौदह वर्षों के इतिहास का उसका आकलन घोषित रूप से यद्यपि वामपंथी दृष्टिकोण से किया गया है, लेकिन प्रत्येक दल और व्यक्ति के प्रति लगभग उतना ही खरा है जितने की अपेक्षा, युक्तिसंगत रूप से, एक सक्रिय राजनीतिज्ञ से की जा सकती है...''

'संडे टाइम्स' ने कहा : ''विचारादि को धार देने के लिए 'द इंडियन स्ट्रगल' एक मूल्यवान पुस्तक है।'' 'डेली हेराल्ड' के राजनयिक संवाददाता का मत था : ''यह शांत, स्थिर और निरावेगी है। मेरे खयाल से समकालीन भारतीय राजनीति पर यह मेरी नजर से गुजरी सर्वाधिक सक्षम पुस्तक है... यह किसी मतांध व्यक्ति की नहीं, विलक्षण रूप से समर्थ मस्तिष्क की रचना है... कुशाग्र, विचारशील एवं रचनाशील मस्तिष्क की, ऐसे आदमी की जो चालीस से कम की अपनी मौजूदा उम्र में किसी भी देश की राजनीति के लिए उपयोगी और शोभनीय हो सकता है।'' 'न्यू क्रानिकल' ने टिप्पणी की : ''क्रांतिकारी

के रूप में वह असाधारण रूप से विवेकी है... उसके साक्ष्य का महत्व वही है जो किसी अत्यंत स्पष्टभाषी प्रत्यक्षदर्शी गवाह के बयान का हो सकता है।" पुस्तक को भारत में प्रतिबंधित करने पर ब्रिटेन के वामपंथी राजनीतिज्ञों तथा साहित्यिक हलकों में खलबली मच गयी। जार्ज लांसबरी ने एक संदेश में कहा : "उसे (सुभाष को) धन्यवाद दो उसकी पुस्तक के लिए, जिसे मैं अत्यंत रुचि से पढ़ रहा हूं और जिससे बहुत कुछ सीख रहा हूं..." फ्रांसीसी विद्वान रोमां रोलां ने सुभाष को एक पत्र में लिखा : "भारत के आंदोलन के बारे में यह इतिहास की एक अनिवार्य पुस्तक है। इसमें आप इतिहासकार के सर्वोच्च गुणों के साथ नजर आते हैं—प्रांजलता तथा उच्चकोटि की तटस्थ मानसिकता के साथ... मैं आपके उच्च राजनीतिक बोध की सराहना करता हूं..." आरयरलैंड के राष्ट्रपति डि वैलेरा[1] ने सुभाष को लिखा : "आशा करता हूं कि निकट भविष्य में भारतीय जनता स्वाधीनता और सौभाग्य प्राप्त कर लेगी।" रोम में सुभाष ने स्वयं मुसोलिनी को अपनी पुस्तक की प्रति भेंट की थी और मुसोलिनी ने भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रति संवेदना व्यक्त की थी।

यूरोप के तमाम देशों की अपेक्षा भारतीय स्वाधीनता में आयरलैंड की सर्वाधिक रुचि थी। उधर भारत के राष्ट्रवादियों, खासकर बंगाल के क्रांतिकारियों को भी आयरलैंडवासियों के संघर्ष ने बहुत प्रेरित किया था, क्योंकि उनका शत्रु भी ब्रिटेन था। यूरोप-प्रवास के दौरान सुभाष चन्द्र को आयरिश अनुभव को बहुत निकट से समझने का अवसर मिला था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अन्य देशों का, विशेषतया महाद्वीप में ब्रिटेन के पारंपरिक विपक्षी जर्मनी का समर्थन जुटाने के लिए आयरिश क्रांतिकारियों द्वारा अपनाये गये तरीकों का उन्होंने बड़ी बारीकी से जायजा लिया। तुलना करने पर सुभाष ने पाया, और संपुष्ट भी किया, कि आयरलैंड और भारत के स्वाधीनता संग्रामों की राजनीतिक प्रवृत्तियों में दिलचस्प समानताएं हैं। डि वैलेरा से अपनी मुलाकात की दिशा में पहला कदम उठाते समय सुभाष बर्लिन में थे। 1936 के प्रारंभ में दोनों नेता डबलिन में मिले थे और आपसी हितों के अनेक मामलों पर उनमें लंबी बातचीत हुई थी। अंतर्राष्ट्रीय प्रेस को आयरलैंड से वितरित करने के लिए सुभाष ने तीन भाषाओं—अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन—में भारत संबंधी बुलेटिन प्रकाशित करने का प्रबंध किया। किंवदंत आयरिश क्रांतिवीरांगना मैडम मॉड गन मैकब्राइड की देखरेख में चलनेवाली इंडो-आयरिश इंडिपेंडेंस लीग की गतिविधियों में सुभाष चन्द्र बोस की आयरलैंड यात्रा से भारी सरगरमी आ गयी।

1. ऐमन डि वैलेरा (1882-1975), जन्म : (संयुक्त राज्य) अमरीका। 1937-48, 1951-54 तथा 1957-59 के दौरान आयरलैंड के प्रधानमंत्री। फिर 1959 से 1973 तक आयरलैंड के राष्ट्रपति। पत्र लिखते समय वे संभवतया प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति नहीं थे।

सन् 1934 में, जब राष्ट्रमंच पर कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी उदित हुई, तो सुभाष यूरोप में थे। भारतीय राजनीति में इस वामपंथी धारा के आगमन पर उन्हें प्रसन्नता हुई; क्योंकि वे समझते थे कि जिस सहज आवेश के परिणामस्वरूप यह पार्टी गठित की गयी है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से सही है। लेकिन सुभाष का मत यह भी था कि सोशलिस्टों में एकरूपता नहीं है, उनके कई एक विचार घिस-पिट चुके हैं और उन्हें जरूरत है एक स्पष्ट विचारधारा, कार्यक्रम और योजनाबद्ध कार्रवाई की। इसका खुलासा करते हुए सुभाष चन्द्र ने कहा कि भावी भारत का दारोमदार बननेवाली पार्टी को जनसाधारण के हितों का पक्ष लेना होगा, न कि निहित स्वार्थों का। इसे भारतीय जनता की संपूर्ण राजनीतिक एवं आर्थिक स्वाधीनता का ही पक्ष साधना होगा। चरम लक्ष्य के रूप में इसे भारत के लिए संघीय सरकार की ही पैरवी करनी होगी, लेकिन देश को स्वावलंबी बनाने के लिए कुछ वर्षों तक केंद्र में तानाशाही अधिकारों वाली शक्तिशाली सरकार की अनिवार्यता भी समझ लेनी होगी। इसे एक विश्वसनीय राजकीय योजना प्रणाली पर निर्भर करना पड़ेगा और देश के कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रों के पुनर्गठन के लिए पसीना बहाना होगा। इसे जात-पांत जैसी सामाजिक बंदिशें तोड़नी होंगी और ग्रामीण बिरादरियों अथवा अतीत की पंच-पंचायतों के आधार पर समाज का नया ढांचा खड़ा करना होगा। इसे जमींदारी मिटाकर समूचे भारत में पट्टेदारी की एक जैसी व्यवस्था लागू करनी पड़ेगी। पार्टी, मध्य विक्टोरियाकालीन शैली के लोकतंत्र की वकालत नहीं करेगी, बल्कि भारत को अखंड रखने और अव्यवस्था रोकने के एकमात्र साधन के रूप में सैन्य अनुशासन में बंधी एक सशक्त पार्टी की सरकार की हिमायत करेगी। पार्टी को सारे परिवर्तनकामी संगठनों को एक राष्ट्रीय कार्यकारिणी के अंतर्गत एकसूत्र करने का प्रयास करना होगा, ताकि राष्ट्रीय जीवन में कई मोर्चों पर एक साथ मिली-जुली कोशिशें हों।

सुभाष चन्द्र की धारणा थी कि कई कारणों से भारत में साम्यवाद (कम्युनिज्म) कभी नहीं अपनाया जा सकेगा। भारत का आंदोलन अनिवार्यतया एक राष्ट्रवादी आंदोलन था—भारतीय जनता की राष्ट्रीय मुक्ति का आंदोलन। उनका मत था कि भारत को "एक संयोजनशील अथवा समानतापरक सिद्धांत" का सृजन करना होगा, जिस पर भावी भारतीय समाज की नींव रखी जा सके। इस सिद्धांत को वे 'साम्यवाद' कहते थे; प्राचीन भारत में यह शब्द सामाजिक विरोधाभास मिटाकर उपलब्ध समरूप स्थिति को अभिव्यक्त करता था।

वर्ष 1935 में सुभाष चन्द्र को अपना विकारग्रस्त पित्ताशय निकलवाने के लिए एक गंभीर आपरेशन करवाना पड़ा। डाक्टरों ने आखिर उनकी बीमारी की जड़ पकड़ ली थी। बड़े आपरेशनों में आज की अपेक्षा उन दिनों बहुत ज्यादा जोखिम था, और सुभाष को

Please Donate to Support This Project.

A small donation from you can decide the future of Hindi.

HELP US HELP HINDI.

Donate Only Rs.500

Click To Donate via Netbanking or Debit/Credit Card (100% secure).

Or Contact - preetam960@gmail.com

Or 08869800176

यह जोखिम एक दूरस्थ देश में, परिजनों-प्रियजनों की अनुपस्थिति में उठाना था। इसलिए उनसे कहा गया कि अनहोनी के मद्देनजर वे अपनी अंतिम इच्छा या अंतिम संदेश लिख डालें। सुभाष ने एक छोटे-से कागज पर लिखा : ''मेरी जायदाद मेरे देशवासियों के हिस्से, मेरे कर्ज मेरे भाई शरत् के जिम्मे।''

यूरोप घूमते हुए सुभाष चन्द्र स्विट्जरलैंड भी गये थे। वहां, जिनेवा में लीग आफ नेशंस—राष्ट्रसंघ—के गलियारों में द्वार द्वार दस्तक देकर उन्होंने दलीलें दीं कि स्वाधीनता उनके देश का अधिकार है। मगर यह देखकर उन्हें बड़ी निराशा हुई कि लीग के अधिकारों पर शक्ति हावी है और उसके सभा-परामर्शों में पराधीनों की आवाज कतई नहीं सुनी जाती।

यूरोप के जिन बौद्धिकों से सुभाष मिले, उनमें से एक थे, महान फ्रांसीसी विद्वान और भारत-मित्र रोमा रोलां। सुभाष चन्द्र से मिलने के बाद रोलां ने अपनी डायरी में एक विस्मृत दूर देश के अनजान युवा यात्री का दिलचस्प वर्णन किया है। रोलां ने पाया कि सुभाष "अत्यंत गंभीर, विचारशील और कुशाग्र है—जो हाल ही में छपी उसकी पुस्तक से साबित हो चुका है। घटनाओं और व्यक्तियों को उसने ठेठ राजनीतिक की दृष्टि और असाधारण निष्पक्षता से जांचा-परखा है... आतंकवाद को वह कोई स्वस्थ नीति नहीं समझता, लेकिन संगठित प्रतिरोध का समर्थक है, जिसमें हिंसा वर्जित नहीं है (और यदि संघर्ष के लिए यह जरूरी हो जाये तो निश्चय ही वह इसका समर्थन भी करेगा), वह निश्छल है, और यूरोपीय युद्ध पर टिकी इस उम्मीद को नहीं छिपाता कि इंग्लैंड उसमें फंसा होगा, तो भारत की जीत की संभावना सुनिश्चित हो जायेगी... सोवियत संघ भारत के स्वाधीन होने में मदद करे, इसमें उसे निश्चय ही कोई हर्ज नजर नहीं आया...।"

19

सन् 1936 के प्रारंभ में सुभाष को लगा कि अब वे काफी स्वस्थ हो चले हैं, इसलिए उन्होंने स्वदेश लौटने का निश्चय कर लिया। खासतौर पर वे कांग्रेस-अधिवेशन में भाग लेने को लालायित थे जो कुछ ही महीनों बाद जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ में होनेवाला था। ब्रिटिश अधिकारियों को उनके कार्यक्रम का आभास मिला तो उन्होंने विएना स्थित ब्रिटिश वाणिज्यदूत की मार्फत उन्हें चेतावनी दी कि भारत लौटकर वे मुक्त विचरने की अपेक्षा न करें। इस चेतावनी के बावजूद सुभाष मार्च में मातृभूति जानेवाले पोत पर सवार हो गये, लेकिन बंबई में भारतभूमि पर कदम रखते ही उन्हें गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया। कुछ समय बाद उन्हें दार्जिलिंग के पास कर्शियांग ले जाकर बड़े भाई शरत् के बंगले में नजरबंद कर दिया गया। इसका एक पूर्वदृष्टांत भी था; सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान यहां घर के मालिक शरत्चन्द्र को भी नजरबंद रखा गया था।

सरकार की विशेष अनुमति पर इस लेखक को, जो उन दिनों एक तरुण छात्र था, कर्शियांग में सुभाष चन्द्र के साथ कुछ सप्ताह बिताने का सुयोग मिला था। इस दौरान उसने सुभाष चन्द्र के व्यक्तित्व और चरित्र की सूक्ष्मतर विशेषताओं को निकट से अनुभव करने के साथ साथ कितने ही राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय विवादों तथा विलक्षणताओं के प्रति उनके विचार जानने का सुयोग भी जुटा लिया था। लेखक पर यह स्पष्ट हो गया था कि सुभाष चन्द्र अब अखिल भारतीय नेतृत्व के प्रवेशद्वार पर हैं।

पिछले कारा-जीवन की तरह इस बार भी सुभाष चन्द्र का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। साल के आखिर में उन्हें कलकत्ता लाकर पहरेबंद कैदी के रूप में मेडिकल कालेज में भर्ती करा दिया गया। बार बार आ दबोचनेवाली व्याधियों के निदान के लिए उनकी तरह तरह की डाक्टरी जांच की गयी। राजनीतिक सरगरमियों में हिस्सा न ले पाने के कारण वे इंतहाई बेचैनी महससू कर रहे थे। जबकि 1935 के नये गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट के सिलसिले और नतीजे में जबरदस्त तब्दीलियां लायी जानेवाली थीं। उनकी अनुपस्थिति में बंगाल कांग्रेस का नेतृतव और पार्टी की तरफ से चुनाव-अभियान का जिम्मा उनके बड़े भाई शरत्चन्द्र को सौंप दिया गया था, जो साल भर पहले ही जेल से छूटे थे।

सुभाष चन्द्र के दंडात्मक उपचार की देश भर में व्यापक भर्त्सना हुई। सेंट्रल लेजिस्लेटिव

असेंबली में विपक्ष ने काम-रोको प्रस्ताव पेश करते हुए सरकार को चुनौती दी कि वह सुभाष पर लगाये गये आरोपों को अदालत में सिद्ध करके दिखाये। मई में उनकी रिहाई को लेकर देश भर में हड़ताल भी की गयी, लेकिन पराई सरकार पर इस सबका कोई असर न हुआ। इसके करीब एक वर्ष बाद, मार्च, 1937 में उन्हें स्वास्थ्य संबंधी कारणों से बिना शर्त रिहा कर दिया गया। रिहाई के तुरंत बाद, सुभाष के आजीवन मित्र दिलीप कुमार राय ने उनसे मिलने के बाद बताया—"आंखों के गिर्द स्याह दायरों के बावजूद उसमें अपूर्व निखार था। आठ वर्ष पहले उसकी आंखों से ऐसी दीप्ति नहीं फूटती थी।"

रिहाई के बाद कलकत्ता में सुभाष का भव्य स्वागत किया गया, लेकिन वे स्वस्थ कतई नहीं थे। इसलिए कुछ दिनों के लिए उन्होंने इंग्लैंड के अपने छात्र-जीवन के परिचित डा. धर्मवीर और उनकी श्रीमती के पास डलहौजी जाने का फैसला किया। डलहौजी उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध आरोग्य-स्थल था। धर्मवीर दंपती इस बीच उनके घनिष्ठ मित्र बन गये थे और सेवा-परिचर्या द्वारा उन्होंने सुभाष को पुनः स्वस्थ बनाने की पूरी जिम्मेदारी संभाल ली।

इस बीच आम चुनाव हो गये थे और ब्रिटिश भारत के ग्यारह में से छह प्रांतों में कांग्रेस संपूर्ण बहुमत से विजयी रही थी। बंगाल और असम जैसे प्रांतों के विधानमंडलों में वह सबसे ज्यादा निर्वाचित सदस्यों वाली पार्टी रही। बंगाल असेंबली में सुभाष के बड़े भाई शरत् कांग्रेस पार्टी के नेता चुने गये। बोस बंधु सांप्रदायिक मुस्लिम लीग को अलग-थलग करने के लिए ए.के. फ़जलुल हक़ के नेतृत्व वाली किसान प्रजा पार्टी से संधि करके संयुक्त सरकार बनाना चाहते थे, लेकिन कांग्रेस आलाकमान मिली-जुली सरकारें बनाने के पक्ष में नहीं था, इसलिए बोस बंधुओं की योजना धरी की धरी रह गयी।

सन् 1937 के अंत में आल इंडिया कांग्रेस कमेटी की बैठक के बाद हर तरफ यह खुसर-फुसर होने लगी कि 1938 के प्रारंभ में हरिपुरा, गुजरात में होनेवाले कांग्रेस-अधिवेशन में सुभाष चन्द्र को पार्टी का अगला अध्यक्ष चुना जायेगा। सुभाष ने इस बीच यूरोप का अल्पकालिक भ्रमण करने का फैसला किया—जिसकी एक वजह तो थी स्वास्थ्य लाभ, और दूसरी यह कि कांग्रेस अध्यक्ष का गुरु-गंभीर पद संभालने से पहले वे यूरोप की स्थिति का विशेष जायजा लेना चाहते थे। पहले वे आस्ट्रिया गये और आराम व बदलाव के लिए अपनी पसंदीदा सैरगाह बाडगास्टीन में रुके। यहीं, करीब दस दिनों में उन्होंने अपनी अधूरी आत्मकथा 'एन इंडियन पिलग्रिम'—एक भारतीय तीर्थयात्री—लिखी। यह एक ब्रिटिश प्रकाशन संस्था से हुए उनके अनुबंध की आंशिक पूर्ति थी। उन्होंने दस अध्याय लिखे, जिनमें 1921 में इंग्लैंड में रहते हुए आई.सी.एस. से उनके त्यागपत्र तक के जीवन का वर्णन है। दुर्भाग्यवश इसके तत्काल बाद जिस तरह का सनसनीखेज सार्वजनिक जीवन

उन्हें अपनाना पड़ा, उसके दबाव और तनाव में फंसकर अपनी आत्मकथा वे कभी पूरी नहीं कर सके। स्वदेश लौटने से पहले, जनवरी, 1938 में वे लंदन भी गये। वहीं उन्हें औपचारिक रूप से अपने कांग्रेस-अध्यक्ष चुने जाने की खबर मिली। फिर भी इंग्लैंड में उन्होंने बड़ी साफगोई से कहा कि भारतीय स्वाधीनता संघर्ष में भारतीय जनता अनिवार्यतया अपनी शक्ति पर निर्भर करेगी न कि इस देश के तथाकथित भारत-मित्रों की कृपालुता पर। आयरिश फ्री स्टेट[1] की ओर से, ब्रिटेन से बड़ी नाजुक किस्म की संधिवार्ता का संचालन कर रहे एमन डी. वैलेरा से उनकी दो मुलाकातें विशेष महत्वपूर्ण थीं। इसी दौरान, सुभाष से इंटरव्यू करने के बाद, 'मैनचेस्टर गार्जियन' ने लिखा, ''बोस से पहली बार मिलनेवाले अंग्रेज उनकी मृदु, सौम्य शिष्टता तथा भारतीय मामलों की चर्चा के दौरान झलकती उनकी निश्चयात्मकता से समान रूप से प्रभावित हुए हैं।''

लंदन में ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के रजनी पामदत्त से एक साक्षात्कार में सुभाष चन्द्र ने, राष्ट्रीय आंदोलन के अगले चरण में, इंडियन नेशनल कांग्रेस की भूमिका की बड़ी स्पष्ट व्याख्या की थी। उन्होंने कहा था कि राष्ट्रीय आंदोलन के अगले चरण में जनचेतना, तेज रफ्तार से, और ज्यादा बढ़ेगी और तब कांग्रेस का काम होगा कि वह ''पार्टी संगठन को विस्तृत साम्राज्यवादी मोर्चे के विरुद्ध'' जमाकर जनशक्ति को लामबंद करे और उसका सही मार्गदर्शन करे। उसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि वे राष्ट्रीय कांग्रेस के जनाधार को और व्यापक बनाने के हिमायती हैं—एक सर्वपक्षीय राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में, जो श्रमिक एवं कृषक संघों का सामूहिक संघ हो। उन्होंने स्पष्ट किया कि हम भारत को स्वाधीन बनाना चाहते हैं और स्वाधीनता के बाद समाजवाद की ओर बढ़ना चाहते हैं। उन्होंने अपना यह व्यक्तिगत दृष्टिकोण दोहराया कि साम्राज्यवाद से लोहा लेने के लिए इंडियन नेशनल कांग्रेस को व्यापकतम आधार पर संघटित होना चाहिए; और अपना लक्ष्य उसे द्विमुखी रखना चाहिए—राजनीतिक स्वतंत्रता संघर्ष में विजय और फिर समाजवादी तंत्र की स्थापना।

जनवरी, 1938 के अंतिम सप्ताह में सुभाष भारत लौटे। कलकत्ता में उनका भव्य स्वागत हुआ। उनके कांग्रेस-अध्यक्ष चुने जाने से बंगाल का राजनीतिक तेवर और वातावरण बदल गया था और इस समस्याबिद्ध प्रांत के राष्ट्रवादी अभिमत और इसके प्रत्येक गुट को जबरदस्त प्रोत्साहन मिला था। 1922 की गया कांग्रेस में देशबन्धु चित्तरंजन दास के निर्वाचन के बाद बंगाल से कांग्रेस का कोई अध्यक्ष नहीं चुना गया था। आसन्न हरिपुरा-अधिवेशन कांग्रेस का 51वां वार्षिक अधिवेशन था। ग्राम्यांचलों में वार्षिक अधिवेशन

---

1. आयरलैंड का भूतपूर्व नाम (1922-37)। उन दिनों के इस गणतंत्र में द्वीप के तीन दक्षिणी प्रांत तथा अलस्टर प्रांत की तीन काउंटियां थीं। गणतंत्र के रूप में इसकी स्थापना 1922 में हुई थी और 1949 तक यह ब्रिटिश राष्ट्रकुल का सदस्य था

आयोजित करने की नीति अपने आप में महत्वपूर्ण थी। इससे पार्टी नेताओं और कार्यकर्ताओं को भारत के निर्धन और उपेक्षित जनसाधारण के रू-ब-रू करने का अवसर जुटता था।

सुभाष चन्द्र के समक्ष महत कार्य था अधिवेशन के अध्यक्षीय भाषण की तैयारी। इसे लिख तो वे आखिरी घड़ियों में ही सके, मगर बड़ी निपुणता से और एक ही मसौदे में। एल्गिन रोड वाले पुश्तैनी घर के अपने शयनकक्ष में बैठकर वे पृष्ठ पर पृष्ठ भरते चले गये। फिर सारे पृष्ठ समेट एक हरकारा, पास ही, वुडबर्न पार्क स्थित उनके भाई के घर दौड़ा गया। वहां भैया शरत् के सचिवों ने भाषण की टंकित प्रति तैयार की, जो वहीं से छापेखाने को भेज दी गयी। मां और अन्य परिजनों सहित निर्वाचित अध्यक्ष के हरिपुरा रवाना होने तक भाषण की छपाई पूरी नहीं हुई थी। मुद्रित भाषण अगले दिन भेजा गया, और कांग्रेस के खुले अधिवेशन में उसे समय पर बांट दिया गया।

20

फरवरी, 1938 में हरिपुरा पहुंचने पर सुभाष चन्द्र का आदर्श स्वागत हुआ। इक्यावन जोड़ी सफेद बैलों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर बैठकर बाजे-गाजे के साथ उन्हें अधिवेशन-स्थल तक ले जाया गया। रास्ते में हजारों-हजार ग्रामीणों ने उनका अभिनंदन किया। सभी राष्ट्रीय नेताओं की उपस्थिति में हुए ध्वजारोहण-समारोह में 'राष्ट्रपति' ने—जैसा कि कांग्रेसाध्यक्ष को उन दिनों कहा-पुकारा जाता था—उत्प्रेरक घोषणा की : "धरती पर ऐसी कोई ताकत नहीं जो अब भारत को पराधीन रख सके।"

अपने लंबे-चौड़े अध्यक्षीय भाषण में, जो कि भावी पीढ़ियों के लिए अमूल्य ऐतिहासिक दस्तावेज है, सुभाष चन्द्र ने सर्वप्रथम साम्राज्यों के उत्थान-पतन तथा साम्राज्यवाद के अंतर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में मानव-इतिहास की सर्वतोदर्शी झलक पेश की। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य की आंतरिक विषमताएं अंततः अपने ही खिंचाव से उसे बिखेर देंगी। श्रोताओं को सुभाष ने याद दिलाया कि लेनिन ने बहुत पहले बताया था, कि ब्रिटिश प्रतिक्रियावाद को ताकत और आहार मिलता है, बहुत-से देशों की दासता से। स्पष्ट है, सुभाष चन्द्र इस बात पर खूब जोर दे रहे थे कि भारतीय जनता का सबसे पहला इतिहास-सम्मत कार्य और कर्तव्य होना चाहिए ब्रिटिश साम्राज्य के विनाश के लिए संघर्ष—जिसमें उसका अपना हित है, बहुत से अधीन राष्ट्रों का हित है और स्वयं ब्रिटेन का हित है।

अध्यक्ष ने श्रोताओं को स्पष्ट रूप से चेताया कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी विश्व भर में बड़ी दक्षता, योजनाबद्ध और निर्मम तरीके से 'फूट डालो, राज करो' की नीति पर अमल कर रहे हैं। उन्होंने ध्यान दिलाया कि ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में लागू नये संविधान में भी विभाजन का यह सिद्धांत मौजूद है। इसमें न सिर्फ विभिन्न संप्रदायों में अलगाव की कोशिश की गयी है, बल्कि संघीय योजना—फेडरल स्कीम—के जरिये निरंकुश राजकुंवरों और निर्वाचित प्रतिनिधियों को अगल-बगल करके बांटो और राज करो के सिद्धांत को चिरस्थायी बनाने का प्रयास किया गया है। उन्होंने देशवासियों को चेतावनी दी कि यह संविधान ठुकरा देने पर भी "विदग्ध अंग्रेज भारत को बांटने और फलस्वरूप भारतीय जनता को सत्ता-हस्तांतरण के मार्ग को अवरुद्ध करने की कोई अन्य सांविधानिक युक्ति ढूंढ़ निकालते।"

सुभाष चन्द्र ने इसे एक शुभ लक्षण बताया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद उन दिनों कई जगह खींचतान में उलझा हुआ था—आयरलैंड, भारत, फिलिस्तीन, मिस्र और इराक में। साम्राज्य के बाहर से जो उस पर दबाव था, वह था भूमध्यसागरीय क्षेत्र इटली की ओर से और सुदूर पूर्व में जापान की ओर से, और सर्वोपरि था सोवियत संघ, जिसके अस्तित्वगत स्मरणमात्र से साम्राज्यवादी शासक-वर्ग के दिल दहलने लगते थे। उस पर ब्रिटेन अब समुद्र-स्वामी[1] भी नहीं था। विश्वपटल पर वायुसेना के अभ्युदय ने उसके साम्राज्य के लिए नयी चुनौती पैदा कर दी थी। 'राष्ट्रपति' ने विश्वासपूर्वक कहा कि विश्वशक्तियों की इस आपसी उठापटक में भारत अपने समूचे अतीत की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली बनकर सामने आयेगा।

एकता का जिक्र करते हुए सुभाष ने कहा कि राष्ट्रवाद के आधारभूत सिद्धांतों के अनुरूप इस समस्या को अंतिम रूप से सुलझा लेने का यही उपयुक्त अवसर है। वे बोले, "आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से समान हितों को महत्व देकर ही हम सांप्रदायिक असहमतियों से मुक्त हो सकेंगे।" उन्होंने कांग्रेस की 'जियो और जीने दो' की नीति दोहराई और कहा, "यह नीति है अंतरात्मा, धर्म तथा विभिन्न भाषाभाषी क्षेत्रों की सांस्कृतिक स्वायत्तता से जुड़े मामलों में बिल्कुल भी हस्तक्षेप न करने की नीति।"

राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष के कांग्रेस के तरीके के बारे में सुभाष चन्द्र ने कहा कि यह तरीका—सविनय अवज्ञा सहित—व्यापकतम अर्थों में सत्याग्रह या अहिंसावादी असहयोग का तरीका होगा। साथ ही उन्होंने जोर देते हुए कहा कि यह तरीका निष्क्रिय प्रतिरोध का तरीका है, लेकिन सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध ही नहीं, सक्रिय प्रतिरोध भी होता है। राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में कांग्रेस की भूमिका संबंधी अपनी धारणा सुभाष ने असंदिग्ध शब्दों में व्यक्त की थी। उन्होंने कहा था कि जो पार्टी भारत को स्वाधीन करायेगी, उसे ही संघर्षोत्तर काल में संपूर्ण पुनर्निमाण कार्यक्रम भी पूरा करना होगा। उन्होंने आश्वस्त किया कि कांग्रेस की लोकतांत्रिक बुनियाद भावी भारतीय राष्ट्र को एकदलीय प्रणाली वाला राज्य बनने से रोकेगी और इस बात की भी गारंटी रहेगी कि नेता जनता पर थोपे न जायें, बल्कि उसी में से चुने जायें।

संघर्षोत्तर भारत के पुनर्निर्माण के बारे में 'राष्ट्रपति' ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि निर्धनता, निरक्षरता और रुग्णता के उन्मूलन तथा विज्ञानसम्मत उत्पादन एवं वितरण से जुड़ी मुख्य राष्ट्रीय समस्याएं समाजवादी पद्धति से ही सुलझायी जा सकेंगी। उन्होंने जोर

---

1. असली खिताब 'मिसट्रेस आफ द सीज़' का तर्जुमा होना चाहिए 'समुद्र-स्वामिनी'। प्रथम विश्वयुद्ध के प्रायः बाद तक ब्रिटेन के सैनिक और व्यापारिक बेड़े विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली बेड़े थे, और वही इस खिताब की वजह भी थे।

देकर कहा कि हमारी राष्ट्रीय सरकार का सबसे पहला काम होगा योजना आयोग की स्थापना। योजना का एक हिस्सा होगा तात्कालिक राहत और एक दीर्घकालिक कार्यक्रम का। अविलंबनीय लक्ष्य होंगे—पहला, देश को आत्मत्याग के लिए तैयार करना; दूसरा, भारत का एकीकरण; और तीसरा, स्थानीय एवं सांस्कृतिक स्वायत्तता का निश्चयीकरण। संभावित विदेशी आक्रमण का सामना कर पाने की दृष्टि से उक्त आधार पर, एक शक्तिशाली केंद्रीय सरकार के तत्वावधान में देश को एकसूत्र करना परमावश्यक है। साथ ही, उन्होंने कहा कि हम अल्पसंख्यकों तथा प्रांतों को उदारतापूर्वक सांस्कृतिक एवं प्रशासनिक स्वायत्तता देकर निर्भय बना सकते हैं। राष्ट्रीय एकता की समुन्नति के लिए सुभाष चन्द्र ने आग्रह किया कि रोमन लिपि में लिखी जानेवाली हिंदुस्तानी को भारत की संपर्क-भाषा के रूप में विकसित किया जाये और विमान, टेलीफोन, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन आदि आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों के उपयोग से भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निकटता लाई जाये। स्वतंत्र भारत के दीर्घकालिक कार्यक्रम के बारे में उन्होंने कहा कि हमारी पहली समस्या होगी आये दिन बढ़ती जनसंख्या; क्योंकि अंधाधुंध तरीके से जनसंख्या का बढ़ते जाना हम झेल नहीं पायेंगे।

पुनर्निर्माण की दिशा में प्रधान समस्या होगी निर्धनता-उन्मूलन की। इसके लिए, सुभाष चन्द्र ने कहा, जरूरत होगी भूमि संबंधों में आमूल सुधार की, किसानों के कर्जे माफ करने की, ग्रामीण जनता के लिए अल्प ब्याजदर-ऋणों के प्रावधान की, सहकारी आंदोलन के प्रसार की और कृषि के आधुनिकीकरण की। लेकिन, उन्होंने कहा कि कृषि-विकास से ही काम नहीं चलेगा। राजकीय स्वामित्व तथा राजकीय नियंत्रण में औद्योगिक विकास अनिवार्य होगा और एक नयी औद्योगिक प्रणाली की स्थापना भी करनी होगी। योजना आयोग का काम होगा कि लोगों के अधिकाधिक लाभ के अनुरूप बड़े, मध्यम तथा लघु उद्योगों और कुटीर उद्योगों के सामंजस्यपूर्ण विकास की रूपरेखा बनाये। अंत में, हर हालत में हमें समूची कृषि एवं औद्योगिक प्रणाली के उत्पादन एवं विनियोजन के क्रमिक सामाजीकरण का एक विशद् कार्यक्रम बनाना होगा।

सुभाष चन्द्र के कांग्रेस-अध्यक्ष बनते बनते कांग्रेस पार्टी ने ब्रिटिश भारत के ग्यारह में से सात प्रांतों में सरकार बना ली थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में सुभाष ने कहा कि हमारे मंत्रियों को सबसे पहले अफसरशाही का ढांचा और स्वभाव बदलने होंगे, ताकि हमारी नीतियों और सिद्धांतों पर अमल हो सके। दूसरे, कांग्रेसी मंत्रियों को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति द्वारा निर्धारित एकरूप नीति के अनुसार शिक्षा, स्वास्थ्य, सिंचाई, भूमिसुधार, उद्योग, कार्मिक कल्याण, नशाबंदी, जेल-सुधार इत्यादि से संबंधित पुनर्निर्माण कार्यक्रम तैयार करने चाहिए। इस सिलसिले में उन्होंने कहा, "मेरे खयाल से कांग्रेस कार्यकारिणी समिति स्वातंत्र्य

योद्धाओं की राष्ट्रीय सेना को आदेश-निर्देश देनेवाला मस्तिष्क ही नहीं, स्वतंत्र भारत का छाया-मंत्रिमंडल भी है। सुभाष चन्द्र ने अंग्रेजों के बनाये संविधान के संघीय भाग को लागू करने के विरोध की योजना बनाने पर बहुत जोर दिया; क्योंकि संघीय योजना वस्तुतया इस संविधान में भारत को राजनीतिक रूप से विभाजित और आर्थिक दृष्टि से कमजोर करने के लिए परिकल्पित की गयी थी। सुभाष की मान्यता थी कि कांग्रेस को ब्रिटिश माडल के इस संघीय ढांचे का जी-जान से विरोध करना चाहिए—वैधानिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि जरूरत पड़ने पर लोकस्तरीय सविनय अवज्ञा सहित प्रत्यक्ष कार्रवाई द्वारा भी; और ब्रिटिश भारत में ही नहीं, बल्कि भारतीय राजशाहियों में भी।

21

अंतर्राष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों के सर्वेक्षण के बाद, हरिपुरा कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण में सुभाष चन्द्र ने कांग्रेस-संगठन के लिए कुछ ठोस सुझाव रखे। पहला सुझाव यह था कि चमत्कारी जन-ऊर्जा को प्रवाहमान बनाकर सही दिशा की ओर मोड़ने के लिए कांग्रेस के पास अनिवार्यतः एक अतिअनुशासित स्वयंसेवक बल होना चाहिए। दूसरे, स्वतंत्र भारत में राष्ट्रसेवा के लिए कांग्रेस को अफसरों का एक कैडर गठित करना चाहिए। सुभाष की धारणा थी कि कांग्रेस जन-संघर्ष का सर्वोच्च साधन है; इसीलिए, तीसरा, सुझाव उन्होंने यह दिया कि श्रमिक संघों एवं किसान संगठनों को कांग्रेस के आदर्शों और तरीकों का कायल करके, और पार्टी शाखाओं के रूप में उन्हें सामूहिक मान्यता देकर (स्वाधीनता-संग्राम की) मुख्यधारा में ले आना चाहिए। इससे साम्राज्यवाद विरोधी एक विस्तृत मोर्चे की स्थापना का मार्ग प्रशस्त होगा। चौथे, सुभाष चन्द्र ने यह मत व्यक्त किया कि कांग्रेस के वामपंथी तत्वों को पार्टी में एक गुट के रूप में चकबंद कर दिया जाये—इस स्पष्ट समझौते के तहत कि वामपंथी गुट आचार-व्यवहार में समाजवाद पर अडिग रहेगा। पांचवें, उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय संबंध बढ़ाने और भारत की स्वतंत्र विदेश नीति विकसित करने की जबरदस्त पैरवी की। उनकी सलाह थी कि किसी देश की आंतरिक राजनीति या उसकी शासन-प्रणाली से हमें सरोकार नहीं होना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास में व्यक्तिगत संपर्क जरूरी होते हैं और विदेशों में भारतीय विद्यार्थी इस काम में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। विश्व भर में भारत को परिचित कराने का एक अन्य महत्वपूर्ण उपाय है, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक संपर्कों को प्रोत्साहित करना। सुभाष चन्द्र का सुझाव था कि इंडियन नेशनल कांग्रेस यूरोप, एशिया, अफ्रीका और उत्तर, मध्य तथा दक्षिण अमरीका में अपने एजेंट नियुक्त करे। उन्होंने खासतौर पर भारत के पड़ोसी देशों से निकट संबंध विकसित करने की आवश्यकता पर बल दिया—जैसे पर्शिया[1], अफगानिस्तान, नेपाल, चीन, बर्मा, स्याम[2],

1. या पर्शियन एंपायर, या फारस, या (अब) ईरान

2. अब थाईलैंड

मलय राज्य[1], ईस्ट इंडीज[2] तथा सीलोन[3]।

भाषण का समापन करते हुए सुभाष चन्द्र ने उत्कट आग्रह किया कि सब लोग मिलकर सारे देश को कांग्रेस के झंडे तले एकजुट करें। कांग्रेस में वामपंथी और दक्षिणपंथी धड़े हो सकते हैं, मगर वह भारत के तमाम साम्राज्यवाद विरोधी मुक्तिकामी संगठनों का साझा मंच है। वामपंथी गुटों से उन्होंने विशेष आग्रह किया कि कांग्रेस के लोकतंत्रीकरण के लिए वे अपनी सारी शक्ति और निपुणता को समूहबद्ध कर लें। भाषण का समापन करते हुए सुभाष ने कहा : "हमारा संघर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद से ही नहीं, विश्व-साम्राज्यवाद से भी है, जिसकी आधारशिला है ब्रिटिश साम्राज्यवाद। इसलिए, हम भारत के ही नहीं, मानवता के हित के लिए भी लड़ रहे हैं। भारत की स्वाधीनता का अर्थ है मानवता की रक्षा।"

कांग्रेस-अध्यक्ष के रूप में सुभाष चन्द्र ने देश का व्यापक दौरा किया। इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि कांग्रेस अंग्रेजों से किसी भी समझौते के विरुद्ध अंतिम रूप से अडिग रहे; और वह भारतीय जनता को बड़े से बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय संघर्ष के लिए तैयार करे; और यह संघर्ष आसन्न यूरोपीय युद्ध के साथ ही शुरू हो जाना चाहिए। पार्टी-अध्यक्ष के रूप में उन्हें कांग्रेस के साथ साथ कांग्रेस-कार्यकारिणी समिति की बैठकों की भी अध्यक्षता करनी होती थी, जिसके दौरान वे सभी के प्रति कर्तव्यनिष्ठ निष्पक्षता तथा मैत्री का निर्वाह करते थे। संयुक्त प्रांत में मंत्रियों संबंधी संकट उन्होंने दक्षतापूर्वक निपटाया था। असम में उनके व्यक्तिगत हस्तक्षेप से मुस्लिम लीग की सरकार बरखास्त हुई और कांग्रेस मंत्रिमंडल का गठन हो गया। कष्टकारी हिंदू-मुस्लिम समस्या का समाधान खोजने के लिए, 1938 के उत्तरार्ध में, उन्होंने मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना से कई मुलाकातें कीं और व्यापक पत्राचार किया। लेकिन बातचीत उस समय टूट गयी, जब जिन्ना इस मुद्दे पर अड़ गये कि लीग को भारतीय मुसलमानों की एकमात्र अधिकृत एवं प्रतिनिधि पार्टी माना जाये। मजा यह कि बंगाल मुस्लिम लीग से, 1939 में, धैर्यपूर्ण मान-मनौवल और राजनय द्वारा सुभाष चन्द्र कलकत्ता नगर निगम में कामकाजी संधि स्थापित करने में कामयाब हो गये, जो बाद में बोस-लीग संधि कहलाई। हरिपुरा-अधिवेशन के तीन महीने के भीतर उन्होंने दिल्ली में कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया, और फिर उद्योगमंत्रियों का एक और सम्मेलन बुलाया, और उनमें भारत जैसे विपन्न देश को आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र बनाने के लिए योजना-निर्माण के महत्व की व्याख्या

1. या मलय स्टेट्स, या फेडरेशन आफ मलाया—मलय प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर के राज्यों का संघ; अब मलयेशिया
2. मलय द्वीपसमूह; प्रधानतः इंडोनीसियाई द्वीपसमूह
3. अब श्रीलंका

की। 1938 के मध्य में उन्होंने कांग्रेस के तत्वावधान में एक राष्ट्रीय योजना समिति गठित करने का निश्चय किया और विख्यात वैज्ञानिकों, अर्थशास्त्रियों आदि से इस विषय में विस्तृत विचार-विमर्श करने लगे। जवाहरलाल नेहरू से उन्होंने इस समिति की अध्यक्षता करने का आग्रह किया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने पार्टी-अध्यक्ष के प्रस्ताव को मंजूर कर लिया और दिसंबर, 1938 में बंबई में, योजना समिति का विधिवत उद्घाटन हुआ।

राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के बारे में सुभाष चन्द्र के विचार बड़े स्पष्ट और सुनिश्चित थे और वे इन्हें असंदिग्ध भाषा में व्यक्त करते थे। उन्होंने दो टूक लहजे में कहा कि औद्योगिक क्रांति की प्रसव-वेदना झेले बिना भारत में किसी भी तरह की औद्योगिक उन्नति संभव नहीं है, और यह स्वीकार किया कि कांग्रेस में इस विषय पर मतैक्य नहीं है। लेकिन उभरती हुई पीढ़ी तीन मुख्य कारणों से उद्योगीकरण के पक्ष में है—पहला, बेरोजगारी की समस्या सुलझाने के लिए उद्योगीकरण आवश्यक है। विज्ञानसम्मत कृषि से यद्यपि उत्पाद न बढ़ेगा, लेकिन आबादी के खासे बड़े हिस्से को भौमिक से औद्योगिक उद्यमों में स्थानांतरित करना पड़ेगा—यदि भारत के हर स्त्री-पुरुष को भोजन उपलब्ध कराना हो, तो; दूसरा, उभरती पीढ़ी समाजवाद को राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आधार बनाने की पक्षधर है और समाजवाद उद्योगीकरण की अपेक्षा करता है; और, तीसरा, उद्योगीकरण विदेशी उद्योगों से सफल प्रतियोगिता के लिए अनिवार्य है।

सुभाष चन्द्र की तीव्र इच्छा थी कि राष्ट्रीय एकता तथा भाईचारे का लक्ष्य साधने के मामले में कांग्रेसी अपने दायित्व के बारे में पूर्णतया सचेत रहें। वे चाहते थे कि भारत तुर्की जैसा रास्ता अपनाये, चीन जैसा नहीं। वे कहते थे कि राष्ट्रीय एकता और भाईचारे को बढ़ावा देने के लिए बहुत-सी चीजें चाहिए—जैसे साझी (जन) भाषा, साझा पहनावा, साझा खान-पान, वगैरह। लेकिन सबसे ज्यादा जरूरत है एकसूत्र राष्ट्र बनाने और एक बने रहने के संकल्प की। इस प्रकार, उनका खयाल था कि एकता की समस्या मुख्यतया जनमानसिकता की समस्या है। लोगों को सिखाया जाना चाहिए और फिर भावात्मक व्यायाम भी कराना चाहिए कि वे एकराष्ट्र हैं। इस राष्ट्रीय संकल्प के अलावा चाहिए एक राष्ट्रव्यापी पार्टी। कांग्रेस ऐसी पार्टी है। अब यह हमें तय करना है कि उद्योगीकरण हमारे यहां ब्रिटेन की भांति धीरे धीरे हो, या सोवियत रूस की तरह जबरी तेजी से। उनकी धारणा थी कि भारत में यह जबरी तेजी से ही होना चाहिए। उनके विचार से अपनी राष्ट्रीय सरकार बनाने के बाद पहला पहला काम हमें यह करना होगा कि समूचे देश के लिए एक राष्ट्रीय योजना आयोग नियुक्त करें।

सुभाष ने यह भी स्पष्ट किया कि उद्योगीकरण की हिमायत करके वे कुटीर उद्योगों को खुदा हाफिज नहीं कह रहे। वे तो दरअसल उनमें जर्मनी, जापान तथा अन्य उन्नत

देशों की भांति, विज्ञान की सहायता से, नवजीवन तथा शक्ति फूंकने के समर्थक हैं।

सुभाष ने राष्ट्रीय योजना-विधान के कुछ सिद्धांत पेश किये। कहा कि सर्वप्रथम औद्योगिक दृष्टि से प्रमुख उत्पादों की मांग और पूर्ति के विषय में हमें राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता का लक्ष्य सामने रखना होगा। दूसरे, हमारी नीति प्रधानतया मूल उद्योगों की वृद्धि और उनके विकास पर आधारित होनी चाहिए—जैसे विद्युत-आपूर्ति, धातु-उत्पादन, मशीन एवं यंत्र-निर्माण, आधारभूत रसायनों का उत्पादन, परिवहन एवं संचार-उद्योग। तीसरे, तकनीकी शिक्षा एवं शोध के क्षेत्र में, जरूरत होने पर, सुनिर्धारित और सुनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार भारतीय विद्यार्थियों को प्रशिक्षणार्थ विदेश भेजा जाये। यही नहीं, सुभाष का मत था कि तकनीकी शोधकार्य पर किसी भी तरह का सरकारी नियंत्रण न हो। चौथे, वे एक स्थायी राष्ट्रीय शोध परिषद की स्थापना के हिमायती थे। उन्हीं के शब्दों में, जरूरत सिर्फ इस बात की है कि विज्ञान और राजनीति में दूरगामी सहयोग हो।

22

कांग्रेस-अध्यक्ष के रूप में अपने कामकाज तथा देशव्यापी दौरों के फलस्वरूप सुभाष चन्द्र ने नेतृत्व स्तर पर तरह तरह के नये रुझानों तथा जन-मनोविज्ञान बनाम स्वाधीनता संग्राम के विषय में नया अनुभव और ज्ञान प्राप्त किया। अध्यक्ष स्वयं कट्टर समझौता विरोधी राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का प्रतिनिधित्व करता था, जो उपयुक्त अवसर आते ही साम्राज्यवाद पर निर्णायक और विराट आक्रमण करके सत्ता हस्तगत करने की घात में थे। दूसरी तरफ,

से सुलह-समझौते को तैयार थे—उस अनिष्टकारी संघ-योजना के आधार पर भी, जिसे अंग्रेज हम पर थोपना चाहते थे। तीसरी ओर दक्षिणपंथी और वामपंथी, दोनों धड़ों के वे कोरे सिद्धांतवादी गुट थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद से सीधे जूझने की बजाय दार्शनिक एवं अमूर्त किस्म के राजनीतिक प्रश्नों पर वाद-विवाद करते रहने में ज्यादा रुचि रखते थे। इन परिस्थितियों में सुभाष चन्द्र का दृष्टिकोण यह बना कि अगले वर्ष भी, जब यूरोप में युद्ध छिड़ जाने की उम्मीद थी, उन्हें कांग्रेस की अध्यक्षता करते रहनी चाहिए।

लेकिन तीन ऐसे कारण मौजूद थे कि दक्षिणपंथी कांग्रेसियों को एक और कार्यकाल के लिए अध्यक्ष के रूप में सुभाष चन्द्र स्वीकार्य नहीं थे। पहला था, ब्रिटेन से किसी भी समझौते के विरोध को कड़ा बनाने का उसका अजस्र अभियान। दूसरे, उद्योगीकरण तथा औद्योगिक परियोजनाओं को राष्ट्रीय योजना समिति के अधीन रखने की उनकी पक्षधरता के चलते दक्षिणपंथियों की उनसे दूरी; तीसरे, सितंबर, 1938 में, अंग्रेजों द्वारा हिटलर से नापाक म्यूनिख संधि[1] करने के बाद यूरोप में युद्ध छिड़ने की अपरिहार्यता पर उनका विश्वास। यह परिदृश्य जनसाधारण को तो बहुत भा रहा था, लेकिन दक्षिणपंथी नेताओं को जरा भी पसंद नहीं था—क्योंकि वे अपने मंत्रिपदीय एवं संसदीय क्रियाकलाप में व्यवधान नहीं चाहते थे। इस प्रकार सुभाष के अध्यक्षता काल के अंत तक उनके और दक्षिणपंथी नेताओं के बीच दरार बहुत बढ़ गयी थी।

---

1. म्यूनिख संधि, जिसमें तीसरा पक्ष फ्रांस था, के तहत हिटलर को प्रसन्न रखने के लिए चेक सूदेतनलैंड नात्सी जर्मनी को सौंप दिया गया था।

इसलिए जब दूसरी बार उन्होंने अध्यक्ष-पद का चुनाव लड़ने का ऐलान किया तो कांग्रेस नेतृत्व के तत्कालीन बहुमत ने उसे फौरन नामंजूर कर दिया। सुभाष चाहते थे कि कांग्रेस जैसी जनाधारित लोकतंत्री पार्टी में अध्यक्षीय चुनाव नीतियों और कार्यक्रमों के आधार पर होना चाहिए। वे अपनी उम्मीदवारी वापस लेने को तैयार थे, बशर्ते उन्हीं जैसा अन्य राष्ट्रीय नेता अध्यक्ष चुना जाये—जैसे आचार्य नरेन्द्र देव। लेकिन यह नहीं हुआ। महात्मा गांधी का आशीर्वाद पाकर, दक्षिणपंथियों द्वारा नामांकित पट्टाभि सीतारामैया उनके विरुद्ध मैदान में उतरे। चुनाव से पूर्व अखबारों के जरिये, सुभाष चन्द्र और वल्लभभाई पटेल एवं अन्य दक्षिणपंथी नेताओं में गरमागरम वाद-विवाद हुआ, जिसमें दोनों पक्ष अपने अपने दृष्टिकोण को सही बताते रहे। आखिर चुनाव में सुभाष दो सौ वोटों के बहुमत से साफ जीत गये। इस चुनाव से सिद्ध यह हुआ कि देश भर में उनका कितना व्यापक और प्रभावशाली समर्थन है। चुनाव तक गांधी जी चुप रहे, लेकिन चुनाव परिणाम घोषित होने पर उन्होंने स्वीकार किया कि सीतारामैया की पराजय मेरी पराजय है। घटनाक्रम के ऐसा मोड़ लेने पर जवाहरलाल नेहरू स्पष्टतया अत्यंत खिन्न थे, लेकिन प्रायः तटस्थ रहे, हालांकि सुभाष के विचार से यह तटस्थता विरोध का ही पर्याय थी।

सन् 1939 की मध्य फरवरी में सुभाष चन्द्र वर्धा आश्रम में गांधी जी से मिलने गये, लेकिन मिलना निष्फल रहा। वर्धा से कलकत्ता लौटने पर वे सख्त बीमार पड़ गये। उन्होंने निवेदन किया कि महीने के आखिर में होनेवाली कार्यकारिणी समिति की बैठक स्थगित कर दी जाये। जवाब में अधिकांश सदस्यों ने कार्यकारिणी समिति से सामूहिक त्यागपत्र दे दिया। जवाहरलाल नेहरू ने अलग से एक बयान जारी किया, जो त्यागपत्र जैसा ही था।

कांग्रेस-अधिवेशन मध्यप्रदेश में जबलपुर के निकट त्रिपुरी में शुरू मार्च में होनेवाला था। डाक्टरों की सख्त ताकीद थी कि सुभाष उसमें भाग न लें। उनके दोनों फेफड़ों को निमोनिया ने धर लिया था और उनका जल्दी स्वस्थ होना संभव नहीं था। लेकिन डाक्टरों की हिदायत अनसुनी कर नवनिर्वाचित अध्यक्ष त्रिपुरी के लिए चल पड़ा। एंबुलेंस से उन्हें रेलगाड़ी तक पहुंचाया गया, जबलपुर में स्ट्रेचर के सहारे उतारा गया और वहां से फिर एंबुलेंस में अधिवेशन-स्थल, अध्यक्ष के शिविर तक ले जाया गया। परिजनों और डाक्टरों का एक दल उनके साथ आया था। त्रिपुरी में उनका बुखार टूटने का नाम नहीं ले रहा था, फिर भी उन्होंने विषय समिति की बैठक में जाने की जिद की और मंच पर लेटे लेटे ही बैठक का संचालन किया। राजनीतिक गतिविधियां जोरों पर थीं और पार्टी-गतिरोध खत्म करने के लिए विभिन्न धड़ों में श्रमसाध्य सुलह-वार्ता अनवरत चल रही थी। पुरानी कार्यकारिणी समिति का बहुमत अध्यक्ष से किसी भी तरह का समझौता या निपटारा करने

का कड़ा विरोध कर रहा था। गांधी जी परामर्श के लिए वहां उपलब्ध नहीं थे; वे एक नितांत अलग राजनीतिक मुद्दे को लेकर सुदूर राजकोट में अनशन पर थे।

अध्यक्ष बहुत बीमार था, इसलिए खुले अधिवेशन में उसकी अनुपस्थिति में उसका भाषण उसके भाई शरत्चन्द्र ने पढ़ा। अध्यक्ष ने सर्वप्रथम असाधारण एवं विलक्षण स्थितियों का उल्लेख किया जिनके अंतर्गत यह अधिवेशन हो रहा था। उन्होंने मिस्र की वफ्द पार्टी के भ्रातृवत शिष्टमंडल का स्वागत किया, जो इंडियन नेशनल कांग्रेस के अतिथि के रूप में अधिवेशन में भाग लेने आया था। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति की व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि कैसे यूरोप और एशिया की हाल की घटनाओं के परिणामस्वरूप ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी साम्राज्यवाद की शक्ति और प्रतिष्ठा को आघात पहुंचा है। घरेलू राजनीति के संबंध में उन्होंने स्पष्ट और असंदिग्ध रूप से कहा कि उनका सुनिश्चित मत है कि ब्रिटिश सरकार के समक्ष स्वराज का मुद्दा उठाने और भारत की राष्ट्रीय मांग अंतिम चेतावनी के रूप में रखने का समय आ गया है। उन्होंने कहा कि एक निश्चित अवधि में इसका कोई संतोषजनक उत्तर न मिलने पर राष्ट्रीय मांग पर बल देने के लिए हमें सत्याग्रह अथवा लोकस्तरीय सविनय अवज्ञा जैसे उपायों का सहारा लेना होगा। देशवासियों को उन्होंने विश्वास दिलाया कि ब्रिटिश सरकार इस समय लंबे अरसे तक अखिल भारतीय सत्याग्रह जैसा विराट संघर्ष झेलने की हालत में नहीं है। उन्होंने आशा प्रकट की कि वर्तमान परिस्थितियों में हम केवल अपने मतभेद भुला दें, सारे साधन इकट्ठे कर लें और अपने-आपको पूरी तरह राष्ट्रीय संघर्ष में झोंक दें, तो ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर अपने अभियान को विजयकारी बना सकते हैं। इस संबंध में उन्होंने देशवासियों का ध्यान इस ओर भी खींचा कि भारतीय रियासतों में भी अपूर्व जागृति पैदा हो चुकी है; और प्रबल आग्रह किया कि उन रियासतों के स्वतंत्रता सेनानियों से हमें दृढ़ गठबंधन करना चाहिए। भाषण का समापन करते हुए उन्होंने स्वराज की ओर निर्णायक कूच की समुचित तैयारी कर लेने की जरूरत को रेखांकित किया। उन्होंने आह्वान किया कि इस काम को अंजाम देने के लिए न सिर्फ पार्टी में व्याप्त तमाम लोलुपताओं और दुर्बलताओं को निर्ममता से खत्म करना होगा, बल्कि किसान एवं श्रमिक आंदोलनों के तमाम साम्राज्यवाद विरोधी संगठनों से भी निकट सहयोग करना होगा।

लेकिन अध्यक्ष के सदुपदेश का कोई असर नहीं पड़ा और इस आशय का एक प्रस्ताव पारित हुआ—जिसमें बहुत से तथाकथित वामपंथी गुटों की दुविधा और दुर्बलता भी शामिल थी—कि कांग्रेस कार्यकारिणी के लिए गांधी जी का निर्विवाद विश्वासपात्र होना अत्यावश्यक है। इसलिए उस प्रस्ताव में अध्यक्ष को भी हिदायत दी गयी कि "कार्यकारिणी समिति का मनोनयन वे गांधी जी की इच्छाओं के अनुरूप ही करें"। इस प्रकार अध्यक्ष द्वारा देशवासियों

से कही गयी तमात बातें अनसुनी कर दक्षिणपंथी कांग्रेसियों ने महात्मा गांधी में विश्वास व्यक्त किया; और अध्यक्ष के अधिकार कुछ इस तरह सीमित किये कि जब तक वह गांधी जी की स्पष्ट तथा असंदिग्ध इच्छानुसार नयी कांग्रेस कार्यकारिणी समिति का गठन न कर ले, कामकाज ही न कर पाये।

23

त्रिपुरी में जिस मानसिक यातना से सुभाष को गुजरना पड़ा उससे उनके लिए स्वास्थ्य लाभ और भी कठिन हो उठा। इसलिए डाक्टरों और परिवार के लोगों ने तय किया कि उन्हें कलकत्ता वापस न ले जाकर कुछ दिनों तक आराम और इलाज के लिए, धनबाद के पास जामाडोबा नामक एकांत स्थल में रखा जाये। उन दिनों की उनकी मनःस्थिति का अनुमान कुछ समय बाद खुद उनके इन शब्दों से लग सकता है : "त्रिपुरी के नैतिक दृष्टि से रुग्णकारी वातावरण के कारण वहां से चलते समय मन में जैसी घृणा और हताशा थी, वैसी पिछले उन्नीस वर्षों में मैंने कभी महसूस नहीं की... तिमिराच्छन्न मन के लिए मैं ज्योति-किरण की प्रार्थना करता रहा। फिर धीरे धीरे मुझमें नव आलोक उदित हुआ और मेरा मानसिक संतुलन लौटने लगा, और साथ ही लौटने लगी मनुष्य और देशवासियों में मेरी आस्था। आखिर त्रिपुरी ही तो भारत नहीं है...मैंने जो कुछ भी वहां झेला, उसके बावजूद मैं मनुष्य में अपनी आधारभूत आस्था कैसे खो सकता हूं? मनुष्य पर अविश्वास का अर्थ है उसके भीतर समाये दैव पर अविश्वास—किसी के अस्तित्व पर ही अविश्वास!"

त्रिपुरी-कांग्रेस के उस प्रस्ताव को लेकर जिसमें गांधी जी की विश्वासपात्र तथा इच्छानुरूप कार्यकारिणी समिति बनाने की हिदायत अध्यक्ष को दी गयी थी, जामाडोबा में अपनी रोगशैया से सुभाष ने गांधी जी से लंबा पत्र-व्यवहार किया। झमेला यह था कि कार्यकारिणी समिति—कांग्रेस केबिनेट—के सदस्य समान मतावलंबी ही हों या विभिन्न विचारधाराओं के मिले-जुले प्रतिनिधि। अध्यक्ष का दृष्टिकोण था कि संकटापन्न राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को देखते हुए कार्यकारिणी में पार्टी की सभी प्रमुख विचारधाराओं को स्थान देना चाहिए, जबकि गांधी जी का आग्रह था कि समूची कार्यकारिणी एकमानस होनी चाहिए, यानी तमाम सदस्य एक ही दृष्टिकोण को समर्पित होने चाहिए। उन्होंने यह भी कह दिया कि अध्यक्ष चाहे तो अपनी मर्जी की कार्यकारिणी बना कर देख ले। सुभाष चन्द्र यह नहीं कर सकते थे, क्योंकि त्रिपुरी कांग्रेस के प्रस्ताव का स्पष्ट आदेश था कि कार्यकारिणी समिति गांधी जी की इच्छानुसार गठित की जाये और उनकी विश्वासपात्र हो। गतिरोध खत्म करने के लिए जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद ने जामाडोबा जाकर सुभाष चन्द्र से बातचीत भी की।

अप्रैल, 1939 के अंत में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक कलकत्ता में बुलायी गयी। बैठक की पूर्वसंध्या पर, कलकत्ता के पास सोदपुर में, गांधीजी और सुभाष चन्द्र में रू-ब-रू बातचीत हुई। जवाहरलाल और राजेन्द्र बाबू ने भी इसमें सहायक की भूमिकाएं निभायीं। दुर्भाग्य से कोई समझौता या निपटारा संभव नहीं हुआ। अंततः अ.भा.कां. कमेटी के खुले इजलास में सुभाष चन्द्र ने अध्यक्ष-पद से इस्तीफा दे दिया। उन्होंने कहा, "मैं अपना ही निवेदन दोहराना चाहूंगा कि वे (गांधी जी) त्रिपुरी-कांग्रेस द्वारा सौंपे गये दायित्व का निर्वाह करें और कार्यकारिणी समिति मनोनीत करें... हमारा दुर्भाग्य रहा कि... हर तरह से विचार-विमर्श के बावजूद...महात्माजी कार्यकारिणी समिति नामजद नहीं कर सके... इसलिए, केवल सहायता की भावना से, मैं आपको अपना इस्तीफा सौंप रहा हूं।" यह इस्तीफा सुभाष चन्द्र के जीवन के एक अत्यंत महत्वपूर्ण अध्याय के अंत तथा भारतीय स्वाधीनता की खोज में उनकी नयी यात्रा के समारंभ का प्रतीक था।

उनके इस्तीफे की खबर सुनकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें संदेश भेजा : "अत्यंत शोचनीय परिस्थितियों में भी जिस गरिमा और त्याग-भावना का तुमने परिचय दिया है, उसने तुम्हारे प्रति मेरे प्रशंसाभाव और विश्वास को लूट लिया है। ऐसी ही अनिंद्य शालीनता का निर्वाह अभी बंगाल को करके दिखाना है—अपने स्वाभिमान की खातिर और, इस प्रकार प्रकटतः तुम्हारी पराजय को स्थायी विजय बनाने की खातिर।" आज यह सर्वविदित है कि रवि बाबू ने सुभाष के दोबारा कांग्रेस अध्यक्ष चुने जाने के समर्थन में गांधी जी को पत्र भी लिखा था। रवि बाबू के विचार से कांग्रेस में दो आधुनिकतावादी थे—जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस, और "राष्ट्र-नौका की पतवारें इन्हीं दोनों को सौंपे रहने में ही देश का हित है।" और चूंकि नेहरू पहले से ही राष्ट्रीय योजना समिति के अध्यक्ष थे, इसलिए रवि बाबू के विचार से सुभाष चन्द्र को पार्टी अध्यक्ष बने रहना चाहिए था।

त्रिपुरी-कांग्रेस के पूर्व, पर्यंत तथा पश्चात हुए अनुभवों ने सुभाष को इस विचार का कायल कर दिया कि 1939 की सर्वोपरि आवश्यकता है कांग्रेस में एक सुसंगठित एवं अनुशासित वामपंथी धड़ा। अतएव, कांग्रेस-अध्यक्ष के पद से इस्तीफा देते ही, पार्टी के तमाम परिवर्तनवादी एवं प्रगतिशील तत्वों को एकजुट करके वे एक धड़े का गठन करने में जुट गये। 1939 से बहुत पहले ही सुभाष इस बात के भी कायल हो चुके थे कि भारत को उस अंतर्राष्ट्रीय संकट का भरपूर फायदा उठाना चाहिए, जो उनके अनुमान से आने ही वाला था। कांग्रेस के दक्षिणपंथी उनके दृष्टिकोण से सहमत नहीं थे, हालांकि साधारण देशवासी बहुत बड़े पैमाने पर उनके समर्थक थे। फारवर्ड ब्लाक का संगठन करने के मूल में उनकी दो अपेक्षाएं थीं—एक, अपनी नीतियों के लिए वह कारगर ढंग से संघर्ष कर सकेगा और इस प्रकार, एक न एक दिन कांग्रेस के बहुमत को अपने दृष्टिकोण का मुरीद बना

लेगा। दो, यह अपेक्षा पूरी न हुई तो भी वह किसी बड़े संकट का सामना अपने बल-बूते पर कर सकेगा। फारवर्ड ब्लाक के गठन से कांग्रेस में फूट पड़ रही है, इस आक्षेप के जवाब में सुभाष का कहना था कि निष्क्रियता उपजाने वाले सतही ऐक्य और सक्रिय एकता उपजाने वाले अनैक्य में हमें फर्क करना चाहिए। सुभाष की यह दृढ़ धारणा थी कि यदि हम कांग्रेस में एक लड़ाकू दस्ते की स्थापना की जरूरत को नजरअंदाज कर गये, या टाल गये तो ऊंघते हुए तब झकझोरे जायेंगे जब युद्ध-संकट भारत को चपेट में ले चुका होगा। नतीजतन भारत फिर वही गलती करेगा जो 1914 में विश्वयुद्ध छिड़ने पर उसने की थी।

सुभाष चन्द्र के नेतृत्व में, मई, 1939 से, फारवर्ड ब्लाक का प्रचाराभियान पूरे जोरों पर था। जुलाई में, फारवर्ड ब्लाक के आह्वान पर कांग्रेस सदस्यों द्वारा कांग्रेसी मंत्रियों की सार्वजनिक आलोचना करने के लोकतांत्रिक अधिकार की मांग को लेकर देश भर में प्रदर्शन हुए। कांग्रेस के नये अध्यक्ष, डा. राजेन्द्र प्रसाद ने सुभाष चन्द्र को ये प्रदर्शन आयोजित करने से रोका, लेकिन सुभाष ने अध्यक्ष का वह आदेश—जो कि उनके विचार से लोकतंत्र विरोधी था—मानने से इनकार कर दिया। परिणामतः अनुशासनात्मक कार्रवाई के तहत उन पर तीन वर्ष के लिए कोई भी निर्वाचित पार्टी पद न स्वीकारने की पाबंदी लगा दी गयी।

फारवर्ड ब्लाक के अभियान का तात्कालिक लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अनिवार्यतया समझौताविहीन संघर्ष करना था; और संघर्षोत्तर भारत में उसका जोर था समाजवादी व्यवस्था की स्थापना पर। जनसाधारण पर इस अभियान का असंदिग्ध रूप से भारी प्रभाव था, जिसका प्रमाण था देश-भ्रमण कर रहे सुभाष की नित बढ़ती लोकप्रियता। कुछ महीने बाद गांधी जी ने टिप्पणी की कि कांग्रेस की अध्यक्षता से त्यागपत्र देने के बाद सुभाष चन्द्र की लोकप्रियता घटने की बजाय बढ़ गयी है।

सितंबर, 1939 की 3 तारीख को मद्रास समुद्र-तट पर सुभाष एक विशाल सार्वजनिक सभा को संबोधित कर रहे थे। तभी उन्हें सूचना मिली कि ब्रिटेन और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया है। वहीं, बिना किसी लाग-लपेट के उन्होंने ऐलान किया कि भारत के सामने सुनहरा मौका मौजूद है और उसे अपनी मुक्ति के लिए अविलंब धावा बोल देना चाहिए।

ब्रिटिश वाइसराय लार्ड लिनलिथगो ने भारतीय नेताओं अथवा लोगों की मंशा जानने का दिखावा तक नहीं किया और भारत को युद्धरत राष्ट्र घोषित करते हुए, आंतरिक अव्यवस्था को खत्म करने के नाम पर, अत्यंत कठोर अधिकारों से ठुंसा एक अध्यादेश जारी कर दिया। इसके बावजूद वाइसराय से मिलने के बाद महात्मा गांधी ने भी यह वक्तव्य दिया कि स्वाधीनता के प्रश्न पर मतभेद होते हुए भी ब्रिटेन की इस संकट-वेला में भारत

को उससे सहयोग करना चाहिए, जबकि सुभाष चन्द्र का तर्क था कि 1927 से लेकर इंडियन नेशलन कांग्रेस के साल दर साल पारित प्रस्ताव भारत के उस शोषण का भी विरोध करते आये हैं, जो कि साम्राज्यवादी मोर्चों पर ब्रिटेन के उलझने से उसके अपने लाभ के लिए होता रहा है। इस प्रकार, भारतीय इतिहास के एक अत्यंत निर्णायक मोड़ तक पहुंचकर हमारी राष्ट्रीय मुख्यधारा दो विराधी वैचारिक धाराओं में बहने लगी।

24

फारवर्ड ब्लाक का प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन 22 जून, 1939 को बंबई में हुआ। उन तमाम कांग्रेसियों ने सुभाष चन्द्र का पुरजोश साथ दिया जो ब्रिटेन के विरुद्ध जल्द से जल्द अंतिम संघर्ष शुरू करने के पक्षधर थे और एक साम्राज्यवादी युद्ध में भारत की संलग्नता का विरोध करते थे। इस प्रकार, फारवर्ड ब्लाक का प्रारंभ आशाओं से लबरेज वातावरण में हुआ। अलबत्ता, सुभाष के आह्वान के बावजूद, अन्य वामपंथी पार्टियों ने अपने संगठन भंग करके फारवर्ड ब्लाक में विलयन अस्वीकार कर दिया। परिस्थितियों को देखते हुए एक वाम समेकन समिति--लेफ्ट कंसालिडेशन कमेटी—बनायी गयी, जिसमें फारवर्ड ब्लाक, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, मानवेन्द्रनाथ राय की रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी तथा नेशनल फ्रंट (कम्युनिस्टों का उन दिनों का नाम-परिचय) के प्रतिनिधि थे और जिसका चेयरमैन सुभाष चन्द्र बोस को बनाया गया था। तय हुआ कि लेफ्ट कंसालिडेशन कमेटी, एकीकृत शक्ति के रूप में, कांग्रेस पार्टी में दक्षिणपंथियों के वर्चस्व को संतुलित रखेगी। लेकिन यह उम्मीद पूरी नहीं हुई। वक्त के साथ साथ विसंगतियों और मतभेदों ने लेफ्ट कंसालिडेशन कमेटी को दक्षिणपंथी कांग्रेसी धड़े का एक बहुत ही दुर्बल विकल्प सिद्ध किया। इस प्रकार घूम-फिरकर युद्ध के विरोध और राष्ट्रीय संघर्ष को जल्द से जल्द पुनः शुरू करने के पक्ष में अभियान जारी रखने की जिम्मेदारी सुभाष चन्द्र और फारवार्ड ब्लाक की ही होकर रह गयी। युद्ध के प्रति पार्टी का रुख तय करने के लिए कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक 8 सितंबर, 1939 को हुई। सुभाष चन्द्र को इसमें विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। सीधे-सादे शब्दों में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि कांग्रेस को तत्काल स्वतंत्रता संग्राम शुरू कर देना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि यदि कांग्रेस हाईकमान इस दिशा में समुचित कदम नहीं उठाता तो फारवर्ड ब्लाक अकेला ही संघर्ष छेड़ देगा। अंत में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसका सार यह था कि ब्रिटेन को युद्ध में सहयोग देने की कुछ शर्तें भी होंगी। महीने भर बाद इसका जवाब देते हुए ब्रिटिश सरकार ने इससे ज्यादा कुछ नहीं कहा कि भविष्य में कभी भारत को वही डोमिनियन स्टेट्स देने की बात सोची जा सकती है, जिसकी पेशकश पहले-पहल दस वर्ष पूर्व लार्ड इर्विन ने की थी। अक्तूबर के अंत में, वाइसराय की पेशकश के जवाब में, कांग्रेस

कार्यकारिणी समिति ने सविनय अवज्ञा आंदोलन पुनः शुरू करने की ढकी-छिपी धमकी देते हुए कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को इस्तीफे देने का प्रस्ताव पारित किया। सुभाष चन्द्र ने समझा कि कांग्रेसी मंत्रियों के इस्तीफों के बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हो सकेगा और ब्रिटेन से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष, किसी भी तरह के सहयोग की नीति छोड़ दी जायेगी। लेकिन उन्हें भारी निराशा हुई। लिहाजा उन्होंने देश के विभिन्न भागों में प्रदर्शन आयोजित करके युद्ध-सहयोग विरोध और राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष की अविलंब शुरुआत के पक्ष में अपना आंदोलन तेज कर दिया। अक्तूबर, 1939 में, नागपुर में साम्राज्यवाद-विरोधी सम्मेलन आयोजित किया गया। मार्च, 1940 में, फारवर्ड ब्लाक तथा सहजानंद सरस्वती के नेतृत्ववाली किसान सभा द्वारा आयोजित अखिल भारतीय समझौता विरोधी सम्मेलन के तत्वावधान में, रामगढ़, बिहार में एक विराट प्रदर्शन हुआ। सम्मेलन, जो इसी स्थान पर इसी दौरान हुए कांग्रेस-अधिवेशन से भी बड़ा था, को संबोधित करते हुए सुभाष चन्द्र ने कहा—

> जिस संकट ने हमें दबोच रखा है वह भारतीय इतिहास में बेमिसाल हो सकता है, लेकिन विश्व-इतिहास में आम है...भारत में हम एक गतप्राय युग का पटाक्षेप कर रहे हैं, जबकि एक नये युग प्रभात का अभिनंदन भी कर रहे हैं। साम्राज्यवादी युग का अंत हो रहा है और स्वाधीनता, लोकतंत्र तथा समाजवादी युग धुंधलके में से फूट रहा है...यह संकट राष्ट्र के नेतृत्व की सर्वोच्च परीक्षा है...वर्तमान संकट ने हमारी अपनी नेतृत्वशीलता की परीक्षा ली है और दुर्भाग्यवश यह त्रुटिपूर्ण साबित हुई है...वर्तमान संकट का सबसे दुखद प्रपंच यह है कि वे लोग भी विघटन के शिकार हैं, जिन्हें अभी तक हम वामपंथी समझते थे। आसन्न भविष्य वामपंथ की अग्नि-परीक्षा प्रमाणित होगा...वर्तमान दौर हमारे आंदोलन का साम्राज्यवाद विरोधी दौर है। इस दौर में हमारा प्रमुख कार्य है—साम्राज्यवाद का अंत करना और भारतवासियों की राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना। स्वाधीनता के बाद राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का युग शुरू होगा; और वह होगा हमारे आंदोलन का समाजवादी दौर।

अगस्त, 1939 में सुभाष चन्द्र ने 'फारवर्ड ब्लाक' नामक साप्ताहिक पत्रिका शुरू की, जिसके संपादक वे स्वयं थे। इसमें हफ्ता दर हफ्ता हस्ताक्षरित संपादकीय लेखों की एक लंबी शृंखला उन्होंने लिखी। इसमें उन्होंने पाठकों को अपने राजनीतिक विचारों से परिचित कराने के लिए अपने संपादकीय कौशल एवं तर्कप्रवण दलीलों, वक्रोक्तियों, आक्रमणों, कूटोक्तियों और व्यंग्योक्तियों का जमकर प्रयोग किया है। अन्य लेखों में वे देश भ्रमण के अनुभवों को बयान करते और संघर्ष तथा उत्सर्ग के अपने आह्वान के प्रति जनसाधारण की उत्साहपूर्ण प्रतिक्रिया का जिक्र करते। संविधाननिर्मात्री सभा—कांस्टीट्यूएंट असेंबली—के प्रस्ताव का विरोध करते हुए उन्होंने कहा कि वास्तविक संविधान-सभा तो राजनीतिक

सत्ता हस्तगत करने के बाद अंतरिम सरकार के तत्वावधान में ही स्थापित की जा सकती है।

समझौता-विरोधी सम्मेलन के कुछ ही दिनों बाद ब्रिटिश सरकार देश भर में फारवर्ड ब्लाक के सदस्यों के पीछे पड़ गयी और उन्हें भारी तादाद में गिरफ्तार करने लगी। अंग्रेजों के इस हमले और दक्षिणपंथी कांग्रेसियों के वैमनस्य के बावजूद, जून, 1940 में सुभाष चन्द्र ने फारवर्ड ब्लाक का द्वितीय सम्मेलन नागपुर में आयोजित किया। यहां उन्होंने फारवर्ड ब्लाक तथा जनता को एक नया नारा दिया—'आल पावर टू इंडियन पीपुल' (समूची सत्ता हिंदुस्तानियों के हवाले करो)। यूरोप में युद्ध उन दिनों बड़े नाजुक दौर में था। हिटलर लगभग पूरे पश्चिमी यूरोप को कुचल चुका था और इटली भी युद्ध में कूद पड़ा था। नागपुर से कलकत्ता लौटते हुए सुभाष गांधी जी से मिलने सेवाग्राम भी गये, जो दोनों की आखिरी मुलाकात साबित हुई। उन्होंने उनसे एक बार फिर आग्रह किया कि अवसर अत्यंत अनुकूल

बोले कि वे चाहें तो बेखटके अपनी अंतरात्मा और अपने विवेक के आदेश का पालन करे। अंत में गांधी जी ने कहा कि यदि सुभाष अपने तरीकों से देश को आजादी दिला सके, तो उसका अभिनंदन करनेवाले वे पहले व्यक्ति होंगे।

सन् 1937 में सुभाष की रिहाई के कुछ समय बाद कलकत्ता-कांग्रेस के सदस्यों ने सुभाष कांग्रेस कोष स्थापित किया था, जिसमें इकट्ठा होनेवाला पैसा कलकत्ता में कांग्रेस हाउस के निर्माण के लिए सुभाष को सौंपा जाना था। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू ने भी बंगाल के लोगों से इसमें अंशदान की अपील की थी। साल भर बाद कलकत्ता नगर निगम ने सुभाष को एक प्लाट भी दे दिया था। इसके बाद सुभाष एक ऐसे भवन की रूपरेखा तैयार करवाने में जुट गये थे, जो कांग्रेस का मुख्यालय ही नहीं, राष्ट्रनिर्माण की गतिविधियों का भी प्रमुख केंद्र हो। प्रस्ताव आदि राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के समक्ष रखते हुए उन्होंने विनती की कि वे भवन का नाम सुझायें। कविगुरु ने सुभाष की योजना से हार्दिक सहमति जताते हुए भवन का नाम रखा 'महाजाति सदन', जिसका अन्यार्थ था 'राष्ट्रगृह'। सुभाष के निमंत्रण पर, अस्वस्थ होते हुए भी, अगस्त, 1939 में कवींद्र ने शांतिनिकेतन से कलकत्ता आकर एक भव्य समारोह में भवन का शिलान्यास किया था। समारोह में कवींद्र तथा सुभाष दोनों ने ही अपने भाषणों में इस बात पर जोर दिया था कि यह भवन ऐसी तमाम हितकारी गतिविधियों का जीवंत केंद्र होना चाहिए, जिनसे व्यक्ति और राष्ट्र को मुक्ति मिल सकती है तथा भारतीय पुरुषार्थ एवं राष्ट्रत्व का विकास हो सकता है।

सन् 1938 में, खासकर 1939 के शुरू में, जब दक्षिणपंथी कांग्रेसियों और सुभाष चन्द्र

में विवाद छिड़ा हुआ था, तब रवीन्द्रनाथ ठाकुर उनके निकट समर्थक थे—व्यक्तिगत रूप से भी और वैचारिक तौर पर भी। जनवरी, 1939 में शांतिनिकेतन में उन्होंने उनके लिए एक स्वागत-समारोह आयोजित किया था। विवादजनित भावावेश के बावजूद कलकत्ता में सुभाष का सार्वजनिक अभिनंदन आयोजित करके उन्होंने अपनी स्थिति एकदम स्पष्ट कर दी थी। उनकी प्रशंसा में उन्होंने 'देशनायक' शीर्षक एक मानपत्र भी लिखा था। कहा जाता है कि सुभाष ने कवींद्र को इस सार्वजनिक अभिनंदन से अलग करने की बड़ी कोशिश की थी; क्योंकि उन्हें लगता था कि इससे उनकी संस्था 'विश्वभारती' पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। यह मानपत्र द्वितीय महायुद्ध के पश्चात जारी किया गया था, जिसमें अन्य बातों के अलावा कवींद्र सुभाष से कहते हैं—

"मैं उस पौ को फूटते देखता रहा हूं जिसमें तुम्हारी राजनीतिक साधना शुरू हुई थी। उस अनिश्चय भरे धुंधलके में मेरे मन में आशंकाएं थीं और मैं यह स्वीकारने से झिझकता रहा था कि तुम आज की स्थिति तक पहुंचोगे...आज तुम मध्याह्न के उस निर्मल आलोक में उद्भासित हो रहे हो जिसमें शंकाओं का प्रवेश निषिद्ध है। इन वर्षों में तुमने विविध अनुभव आत्मसात किये हैं। आज अपने काम को अंजाम देने के लिए तुम्हारे पास है तुम्हारी प्रौढ़ मानसिकता और अदम्य जीवन-शक्ति। कारावासों, निर्वासनों ओर रोगों ने तुम्हारी क्षमताओं को बहुत हलकान किया, मगर उन्हें क्षति पहुंचाना तो दूर, उन पीड़ाओं ने तुम्हारी संवेदनाओं को विस्तार दिया, जिससे तुम्हारी दृष्टि व्यापक हुई और तुम क्षेत्रीय संकीर्णताओं से परे रहकर इतिहास के विराट परिप्रेक्ष्य को हृदयंगम कर सके...मुझे लगता है, तुम अपनी मातृभूमि के लिए नयी रोशनी और उम्मीद के संदेशवाहक बनकर आये हो। यहां मैं जिसे संबोधित कर रहा हूं, वह संपूर्ण मान्यता के प्रकाश से प्रतिभासित है...आनेवाली लड़ाई में उसका साथ मैं शायद न दे पाऊं। मैं उसे केवल आशीर्वाद दे सकता हूं और विदा लेता हूं, आश्वस्त हूं कि अपने देश के बोझ और दुख को तुमने अपना बोझ और दुख बना लिया है; और देश की स्वाधीनता के रूप में उद्दिष्ट प्रतिफल उसे जल्द ही मिलनेवाला है।"

25

तीसरे दशक के प्रारंभ से ही सुभाष चन्द्र कहते आ रहे थे कि भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के समक्ष भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थिति वैसी ही है, जैसी शत्रु जनता से घिरी किसी हथियारबंद गढ़ी की हो। उनकी धारणा थी कि भारतीय जनता इन दो में से किसी भी तरीके से स्वाधीन हो सकती है—एक, गढ़ी की संपूर्ण नाकेबंदी अथवा संपूर्ण बहिष्कार, यानी व्यापक से व्यापक स्तर पर सविनय अवज्ञा एवं असहयोग; और दूसरे, गढ़ी पर सशस्त्र आक्रमण। 1939 में सुभाष को जब कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से मजबूरन त्यागपत्र देना पड़ा तो, उनके खयाल से, राष्ट्रहित के नाते भारत में स्थितियां कुछ ऐसी थीं : दक्षिणपंथी कांग्रेसी तथा महात्मा गांधी जन-संग्राम छेड़कर अंग्रेजों के सामने डट जाने के एकदम अनिच्छुक थे; और दूसरी तरफ, देश भर की वामपंथी शक्तियों को एकसूत्र में पिरोने के उनके अपने प्रयास भी असफल रहे थे। उन्होंने पाया था कि देश में वामपंथी सिद्धांत बघारनेवाले दल और गुट तो बहुतेरे हैं, लेकिन कृतसंकल्प और ठोस कार्रवाई द्वारा कथनी को करनी में ढालने के लिए तैयार नहीं हैं। इसके अलावा, उन्हें इस चीज से भी बड़ी निराशा हुई थी कि ब्रिटिश सरकार तो परिस्थिति का पूरा फायदा उठाती रहती है, लेकिन मुस्लिम लीग और हिंदू महासभा जैसी सांप्रदायिक पार्टियां राष्ट्रीय स्वाधीनता के सवाल और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को भुलाये रखकर सांप्रदायिकतावादी एवं पृथकतावादी मांगें रखती रहती हैं। इन तमाम बातों के मद्देनजर सुभाष मन ही मन सीमा पार से सशस्त्र आक्रमण की योजना बनाने के उद्देश्य से विदेश जाने की बात सोचने लगे थे। सशस्त्र आक्रमण का उद्देश्य उन्होंने निर्धारित किया था, ब्रिटिश सत्ता को भारत में टिकाये रखनेवाले अंतिम तत्व—भाड़ा लेकर ब्रिटिश ताज की नमकहलाली करनेवाली ब्रिटिश इंडियन आर्मी—का विनाश।

1939 के प्रथमार्ध में सुभाष ने चीन जाने की योजना बनायी और पासपोर्ट मांगा, जिसके लिए ब्रिटिश हुक्मरानों ने मना कर दिया। दूसरे एंग्लो-चीन संधि लागू होने के कारण चुंगकिंग[1] की तत्कालीन सरकार भी सुभाष को चीन में राजनीतिक शरण देने के हक में

---

1. मध्यवर्ती चीन के दक्षिण में यांगसे नदी तट पर बसा सेच्वान प्रांत का एक शहर, जो प्रायः जुंगचिंग के नाम से भी जाना-पुकारा गया है।

नहीं थी। 1940 के शुरू में उन्होंने बंगाल और पंजाब के अपने कुछ निकट मित्रों को इशारा किया कि वे सोवियत संघ और यूरोप जा निकलने के लिए गुप्त रूप से स्वदेश छोड़ सकते हैं। इस बीच, अप्रैल, 1940 में, फारवर्ड ब्लाक द्वारा शुरू किया गया सविनय अवज्ञा आंदोलन जोर पकड़ने लगा था। सुभाष ने स्वयं कलकत्ता के हालवेट स्तंभ को, जो बंगाल के अंतिम स्वाधीन बादशाह सिराजुद्दौला के नाम पर स्थायी कलंक था, हटाने की मुहिम संगठित की थी। उनके आह्वान पर हिंदू और मुसलमान युवक एक साथ आ जुटे। जुलाई के पहले हफ्ते में जिस रोज सुभाष चन्द्र स्वयंसेवकों के एक जत्थे की अगुआई करते हुए हालवेट स्तंभ के गिर्द सत्याग्रह शुरू करनेवाले थे, उन्हें भारत रक्षा कानून (डिफेंस आफ इंडिया रूल्स) के तहत गिरफ्तार करके कलकत्ता की प्रेजीडेंसी जेल में डाल दिया गया। अदालत में उनके विरुद्ध राजद्रोह के दो मुकद्दमे दायर किये गये। इसी कारावास के दौरान उन्हें पूर्व बंगाल के ढाका निर्वाचन क्षेत्र से केंद्रीय लेजिस्लेटिव असेंबली का सदस्य चुना गया।

प्रेजीडेंसी जेल में ही सुभाष चन्द्र ने अपने जीवन का सबसे बड़ा फैसला किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि यह युद्ध ब्रिटिश-साम्राज्य को तहस-नहस कर देगा, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादी बिना लड़े भारतीयों को सत्ता नहीं सौंपेंगे। भारत अपनी आजादी की लड़ाई को युद्ध-संकट के दौरान सक्रिय रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश करके ही जीत सकता है। उन्होंने महसूस किया कि जब इतिहास कहीं और रचा जा रहा हो तो यहां जेल में निष्क्रिय पड़े रहना एक लज्जाजनक राजनीतिक भूल होगी। लेकिन किसी वैधानिक उपाय से छूटने की उन्हें कोई संभावना नजर नहीं आ रही थी। अतएव उन्होंने सरकार को चेतावनी दी कि कारावास में रखने का कोई नैतिक या वैधानिक औचित्य न होने के कारण यदि उन्हें तत्काल मुक्त नहीं किया गया तो वे आमरण अनशन कर देंगे। इस बाबत उन्होंने सरकार को कई ऐतिहासिक पत्र लिखे, जिनमें से एक को उन्होंने अपना राजनीतिक वसीयतनामा—पोलिटिकल टेस्टामेंट—घोषित किया। अन्य बातों के साथ साथ इसमें उन्होंने कहा—

> तत्काल कोई वास्तविक लाभ न होने पर भी कोई कष्ट, कोई त्याग कभी व्यर्थ नहीं जाता...
>
> इस नाशवान संसार की हर चीज नष्ट हो जाती है और नष्ट होती रहेगी—मगर विचार, आदर्श और स्वप्न नष्ट नहीं होते। कोई व्यक्ति किसी विचार की खातिर मर सकता है, लेकिन उसकी मृत्यु के पश्चात वही विचार सहस्रों अन्य मनुष्यों में अवतार ले लेता है...
>
> तो फिर इससे बड़ी सांत्वना क्या हो सकती है कि कोई सिद्धांत की खातिर ही जिया और मर गया?...लक्ष्यवेदी पर शांतिपूर्ण आत्मबलिदान से बढ़कर उसके जीवन की परमगति क्या हो सकती है?

नवंबर, 1940 के अंत में, काली-पूजा के दिन सुभाष चन्द्र ने अनशन शुरू किया। शुरू शुरू में सरकार ने बड़ा सख्त रवैया अपनाया और उनकी चेतावनी का जवाब दिया। दिल्ली की केंद्रीय सरकार ने पहले से ही बंगाल सरकार को कह रखा था कि युद्ध जारी रहते सुभाष चन्द्र को जेल में ही रखा जाये। अतः बंगाल सरकार ने उनके भाई शरत् से आग्रह किया कि वे उन्हें समझायें कि सरकार का रवैया बड़ा शत्रुतापूर्ण है और उन्हें अनशन छोड़ देना चाहिए। लेकिन आमरण अनशन जब हफ्ते भर जारी रहा तो बंगाल सरकार सहसा डर गयी कि कहीं कैदी जेल में मर न जाये। उच्च अधिकारियों की एक गुप्त बैठक में तय किया गया कि फिलहाल उसे छोड़ दिया जाये, लेकिन स्वास्थ्य सुधरते ही दोबारा पकड़ लिया जाये। केंद्र सरकार ने इस पर कड़ी आपत्ति की, लेकिन बंगाल सरकार ने उसे आश्वस्त कर दिया कि वह सुभाष के साथ चूहे-बिल्ली का खेल भर खेल रही है और चिंता की कोई बात नहीं।

मुक्त होते ही सुभाष भारत से निकलने की योजना बनाने लगे। इस अंतराल में गांधीजी से उनका अंतिम पत्र-व्यवहार हुआ। इन पत्रों में उन्होंने आखिरी बार राष्ट्रीय स्वाधीनता की खातिर शुरू किये गये उनके किसी भी आंदोलन, यहां तक कि व्यक्तिगत सत्याग्रह में भी बिना शर्त सहयोग की अपनी पेशकश दोहरायी थी। उन्होंने उनसे बंगाल कांग्रेस में एकता स्थापित कराने की भी प्रार्थना की, जिसमें सुभाष चन्द्र के प्रति निष्ठावान समितियों और व्यक्तियों के विरुद्ध अंधाधुंध अनुशासनात्म कार्रवाईयों से फूट पड़ गयी थी। गांधी जी ने जवाब दिया कि उन दोनों के मतभेद बुनियादी हैं और जब तक दोनों में से कोई एक दूसरे के रंग में नहीं रंग जाता, तब तक दोनों के रास्ते अलग अलग ही होने चाहिए।

गुप्त यात्रा—पहले अपने घर, कलकत्ता से और अंततः उत्तर-पश्चिम सीमांत के कबायली इलाकों के रास्ते भारत से—की योजना में सुभाष चन्द्र ने दो अन्य व्यक्तियों को शामिल किया। पहला था उसका तरुण भतीजा, शरत्चन्द्र का बेटा शिशिर, और दूसरा था पेशावर फारवर्ड ब्लाक का नेता और निकट सहयोगी मियां अकबर शाह। भतीजा तत्काल उपलब्ध था, लिहाजा सुभाष ने उसे साथ कर लिया। खूब बारीकी और ब्योरों सहित, एकदम चुपचाप घर से निकल जाने के सभी मुमकिन तरीकों पर उन्होंने शिशिर से मंत्रणा की। तय हुआ कि शिशिर एक रात चुपके से उसे कार में बिठाकर किसी रेलहेड तक छोड़ आयेगा। जहां से वे पेशावर की ट्रेन पकड़ लेंगे। चाचा-भतीजे ने कई वैकल्पिक योजनाओं पर भी बड़ी सावधानी से विचार-विमर्श किया और अंत में बड़ी हद तक निर्दोष एक योजना पर सहमति हो गयी। शिशिर से कहा गया कि सुभाष की युवा भतीजी इला को भी उनके गुप्त प्रस्थान की जानकारी होगी। घर में यह कहकर ठगा जायेगा कि सुभाष एक निश्चित अवधि के धार्मिक एकांतवास पर निकल गये हैं। इस बीच, तार पाकर, मियां अकबर शाह

भी पेशावर से आन पहुंचा। शिशिर का अकबर शाह से परिचय कराया गया और दोनों सुभाष के आदेशानुसार बाजार से उनके छदमवेष का सामान खरीद लाये। निश्चय हुआ कि सुभाष एक बीमा कंपनी के ट्रैवलिंग इंस्पेक्टर, गैरमहानगरीय मुसलमान मुहम्मद जियाउद्दीन के रूप में यात्रा करेंगे। मियां अकबर शाह ने कबायली इलाकों से होकर, अफगानिस्तान के आरपार उनकी यात्रा के इंतजाम का बीड़ा उठाया। इस बीच शरत्चन्द्र पूरे दिसंबर कलकत्ता से बाहर रहे और जनवरी के शुरू में लौटे; अब अविलंब दोनों भाई अत्यंत गुप्त विचार-विमर्श में जुट गये। शरत् ने योजना में कुछ परिवर्तन किये और योजना को अंतिम तरतीब दी। प्रस्थान की तिथि सुभाष और मियां अकबर शाह ने मिलकर तय की, मगर अत्यंत गोपनीय तरीके से।

26

कलकत्ता से गुप्त प्रस्थान की निर्धारित तिथि 16 जनवरी, 1941 से दो दिन पहले सुभाष चन्द्र ने घरवालों से कहा कि कुछ दिनों के लिए वे एकांतवास में जा रहे हैं। इस दौरान वे न तो किसी से मिलेंगे और न किसी से फोन पर ही संपर्क रखेंगे। पर्दों के जरिये उन्होंने अपना कमरा खंड खंड बांट लिया। बावर्ची खाना-पीना पर्दे के नीचे से भीतर सरका देता और अगली वेला बाहर सरकाये जूठे बरतन-क्राकरी वगैरह उठा लाता। एकांतवास में जाने की आखिरी शाम मां तथा घर के अन्य लोगों के साथ भोजन करते समय उन्होंने सबसे विदा ले ली थी। प्रस्थान वाले दिन घर के अधिकांश सदस्य अपने अपने कमरों में सोने चले गये तो वे अपनी अंतिम तैयारी में जुट गये। इंतजाम यह किया गया था कि घर में ही रहनेवाले उनके दो अन्य भतीजे एकांतवास की कपटकथा फैलाने में इला की मदद करेंगे। शिशिर रात करीब नौ बजे पहुंचा। उसकी भारी-भरकम कार—जर्मन वांडरर—में यात्रा में ले जाने के लिए रखे सुभाष के बक्सों पर सहज ही दिख जानेवाले 'मुहम्मद जियाउद्दीन' के रोमन प्रथमाक्षर 'एम.जेड.' अंकित थे। कूच के लिए बहुत प्रतीक्षा करनी पड़ी, क्योंकि घर के एक-दो सदस्यों को शक हो गया था और वे देर तक इर्द-गिर्द मंडराते रहे थे। अंततः 17 जनवरी, 1941 की रात—करीब 01.30 पर जब मैदान साफ दिखा तो सुभाष चन्द्र को कार में बैठाकर शिशिर सफाई से निकल गया। उस वक्त सुभाष गहरी भूरी शेरवानी, खुला पाजामा, फीतेदार यूरोपियन जूते और सिर पर रुएंदार, काली अस्तरखानी टोपी पहने हुए थे।

घर से बाहर निकलकर शिशिर ने जान-बूझकर दक्षिण की राह पकड़ी, क्योंकि संभव था कि दूसरी तरफ मुफ्ती में सुभाष की निगरानी पर तैनात पुलिसकर्मी कार के आने से चौकन्ने हो गये हों। सरकार ने हालांकि सुभाष को बिना शर्त रिहा किया था, मगर उसकी निगरानी चौबीसों घंटे की जा रही थी। अब तो यह भी जाहिर हो चुका है कि पुलिस विभाग ने घर के भीतर भी अपने मुखबिर बिठा रखे थे, हालांकि उनकी निशानदेही अभी तक नहीं हो सकी है। उधर, अपने बेहद भरोसेमंद आदमियों के जरिये सुभाष ने पुलिस-विभाग से अपनी फाइल उड़वाकर और रातों-रात पढ़-समझकर अगले दिन जहां की तहां रखवा दी थी! यानी वे जानते थे कि पुलिस के पास उसके बारे में किस किस स्रोत से मिली क्या

क्या जानकारी है।

जगमगाती चांदनी में ग्रांड ट्रंक रोड की राह पर चाचा-भतीजे की कार-यात्रा बड़ी रोमांचक थी। भोर-वेला आसनसोल में उन्होंने कार में पेट्रोल डलवाया। 17 जनवरी, 1941 को नौ बजे वे सीधी-भली राह से अलग, धनबाद के निकट, बराड़ी नामक स्थान पर पहुंचे। यहां शरत्चन्द्र का सबसे बड़ा बेटा अशोक, सपरिवार रहता था। शिशिर ने चाचा को अशोक के बंगले से आधा मील इधर ही उतार दिया और बेखटके अकेला भाई के यहां जा पहुंचा। भाई को उसने सावधान किया कि छद्मवेष में चाचा यहां पहुंचने ही वाले हैं। कुछ देर बाद अकेले पहुंचे सुभाष ने धंधे पर निकले बीमा एजेंट के रूप में अपना परिचय दिया। अशोक के घरेलू नौकरों को दिखा-दिखाकर और सुना-सुनाकर कुछ देर तक नाटक किया गया। तमाम बातचीत अंग्रेजी में चली और, यहां तक कि, अशोक ने आगंतुक से शिशिर का औपचारिक परिचय भी करवाया। प्रकटतः आगंतुक के अनुरोध पर दिन भर के लिए उसे मेहमानखाने में ठहरा दिया गया। योजनानुसार, शाम को खूब दिखा-सुनाकर बीमा एजेंट ने घरवालों को खुदा-हाफिज कहा और पैदल निकल पड़ा। कुछ देर बाद शिशिर की कार पर सवार अशोक, अशोक की पत्नी और शिशिर ने सड़क के किनारे चले जा रहे सुभाष चन्द्र को पीछे से जा साथ ले लिया और कार गोमोह की ओर चल पड़ी। आधी रात के काफी बाद दिल्ली-कालका मेल गोमोह स्टेशन पहुंची। सुभाष ने स्वयं अपना टिकट खरीदा, फर्स्ट क्लास में सवार हुए और अकेले अपनी राह चल दिये।

तय हुआ था कि दिल्ली से फ्रंटियर मेल पकड़कर 19 जनवरी, 1941 को सुभाष पेशावर पहुंचेंगे। पेशावर स्टेशन के गेट पर खड़े, बाहर निकलते हर यात्री को ध्यान से देखते अकबर शाह ने आखिर अलग से नजर आते एक भलेमानस मुस्लिम को पहचान ही लिया। अकबर ने फुसफुसाकर उन्हें तांगा पकड़ने को कहा। सुभाष के तांगेवाले से उसने दीन होटल चलने को कहा और स्वयं एक अन्य तांगे से पीछे पीछे हो लिया। रास्ता बदलकर फिर वह उन्हें ताजमहल होटल ले आया। पैदल पेशावर शहर लौटते समय अकबर शाह को अपना पुराना जिगरी दोस्त आबद खान मिल गया और उसे उसने अपनी समस्या कह सुनायी। आबद खान को खुफिया तौर पर सरहद पार कराने का लंबा अनुभव था। उसकी राय पर अकबर शाह ने उसी रात सुभाष को होटल से उसके घर पहुंचा दिया। छह दिन सुभाष ने वहीं काटे। अकबर शाह ने फैसला किया था कि कबायली इलाके से काबुल तक की यात्रा में मुहम्मद शाह और भगतराम तलवार नामक दो युवा रक्षक सुभाष चन्द्र के साथ रहेंगे। उन्हें खबर भी दे दी गयी। आखिर में यह जिम्मेदारी सिर्फ भगतराम को सौंपी गयी।

पेशावर में सुभाष चन्द्र के बहुरूपी वेश में आमूल परिवर्तन हुआ। अब वे पठान थे। आबद खान के यहां उन्हें पठानों के समाजी दस्तूर और रस्मों रिवाज सिखाये गये, ताकि

उनका सामाजिक और सार्वजनिक व्यवहार निर्दोष रहे। पुरानी वेशभूषा के बदले उन्हें कुल्लेदार पगड़ी सहित विशुद्ध पठानी लिबास दिया गया। बीमा-एजेंट 'जियाउद्दीन' अब भगतराम का गूंगा-बहरा बड़ा भाई था, जिसे पहले किसी दरगाह ले जाना था और फिर, इलाज के लिए, काबुल।

26 जनवरी, 1941 की सुबह सुभाष चन्द्र आबद खान द्वारा जुटायी एक कार में भगतराम, मुहम्मद शाह और एक गाइड के साथ अफरीदी कबीले की अमलदारी की ओर रवाना हो गये। योजनानुसार, परिवारवालों ने उसी दिन कलकत्ता से उनके गायब हो जाने की खबर आम कर दी।

तीन सफारियों ने अपना पैदल सफर कबायली अमलदारी की असल सरहद से फर्लांग भर परे से शुरू किया। सुभाष चन्द्र को अफगानिस्तान ले जाने के लिए सबसे छोटा, मगर सबसे दुरूह रास्ता चुना गया था और यह यात्रियों, बल्कि क्रांतिकारियों द्वारा भी प्रयोग किये जानेवाले परंपरागत रास्तों से भिन्न था। उन्हें दुर्गम पहाड़ियां भी चढ़नी पड़ीं, जिन पर जगह जगह बर्फ जमी हुई थी। अगली दो रातें उन्होंने रास्ते में पड़नेवाले छोटे छोटे गांवों में काटीं। 28 जनवरी को आधी रात के काफी बाद उन्होंने अफगान क्षेत्र के पहले गांव में कदम रखे। सुभाष थक-टूट न जायें, इसलिए सफर के दूसरे हिस्से में उन्हें खच्चर पर बिठा दिया गया था, लेकिन एक जगह, ढलान पर, खच्चर बर्फ पर फिसल गया और वे नीचे जा गिरे। कच्चे, दुर्लंघ्य रास्तों को पार करते हुए दो दिन बाद वे पेशावर-काबुल हाइवे पर गारदी गांव पहुंचे। आबद खान का गाइड उन्हें अफगान क्षेत्र में पहुंचाकर लौट गया था। सुभाष चन्द्र और भगतराम हाइवे से गुजरते, चाय की पेटियां लादे एक ट्रक पर मिन्नत करके सवार हुए और 28 जनवरी की सुबह दस बजे जलालाबाद पहुंच गये। 29 जनवरी को, लोगों को नजर आ जाने की खातिर, वे जलालाबाद के नजदीक दरगाह अड्डा शरीफ पहुंचे। वहां उन्होंने एक महत्वपूर्ण राजनीतिक कार्यकर्ता हाजी मुहम्मद अमीन से भी संपर्क साध लिया।

जनवरी 30 को वे तांगे से काबुल रवाना हुए। रास्ते में तांगा छोड़, फिर ट्रक पकड़कर अगली सुबह वे बुद खाक चेकपोस्ट पहुंचे। यहां से फिर तांगा किया और 31 जनवरी, 1941 को सुबह ग्यारह बजे वे काबुल पहुंच गये।

काबुल शहर से वे दोनों अनजान थे। पूछ-पाछकर उन्होंने लाहौरी गेट के पास एक सराय में डेरा डाल लिया। सराय को आदमजाद की रिहायश लायक मानना मुश्किल था, पर और कोई चारा भी नहीं था। चाय में डबलरोटी भिगोकर दोनों ने खाना खा लिया।

हालांकि सुभाष चन्द्र अब ब्रिटिश पुलिस की सीधी पकड़ से बाहर थे, पर जल्दी ही उन पर यह साफ हो गया कि उनकी आफतें खत्म नहीं, शुरू हुई हैं। अगले पैंतालीस दिनों

तक घोर सत्कारनिष्ठुर परिस्थितियों और किसी भी घड़ी अफगान पुलिस या ब्रिटिश मुखबिरों की निगाह में पड़ जाने के भय के बीच जीते सुभाष के लिए यह अत्यधिक त्रासद दौर था। उनके कदमों और गंतव्य—मध्य यूरोप—के आड़े खड़ा था सोवियत संघ। पंजाब की किरती-किसान पार्टी के मध्यस्थों की मार्फत, जो पहले से ही मास्को में थे, उन्होंने सोवियत सरकार से संपर्क साधने और, कम से कम किसी अस्थायी व्यवस्था की बहुत कोशिश की, पर नतीजा कुछ नहीं निकला। दरअसल क्या हुआ, यह अभी तक मालूम नहीं। स्थिति अब यह थी कि सुभाष चन्द्र को सब कुछ नये सिरे से करना था और गिरफ्तारी से बचने के लिए जल्दी से जल्दी काबुल छोड़ने का कोई तरीका निकालना था।

27

काबुल में लाहौरी गेट के पास वाली सराय में डेरे के दौरान भी सुभाष चन्द्र गूंगा-बहरा बने रहे। लेकिन एक शक्की पुलिसिया बार बार उनके पास आने लगा। पीछा छुड़ाने के लिए सुभाष ने उसे अपनी सोने की कलाई घड़ी भी दे दी, लेकिन वह रह रहकर दोनों परदेसियों को कोतवाली ले चलने पर अड़ जाता। इस बीच भगतराम के सोवियत व्यापार प्रतिनिधि—मिनिस्टर—से संपर्क स्थापित करने के प्रयास भी बेकार गये। 6 फरवरी को सुभाष बिना वक्त तय किये जर्मन दूतावास—लीगेशन—जा धमके और किसी तरह मिनिस्टर पिल्गर के पास पहुंच गये। मिनिस्टर का व्यवहार मैत्रीपूर्ण था, मगर अपनी तरफ से कुछ भी कर पाने में उसने असमर्थता व्यक्त की और बर्लिन से आदेश मिलने तक की मोहलत मांगी। काबुल स्थित जर्मन कंपनी सीमंस के एक अधिकारी को सुभाष और जर्मन दूतावास के बीच मध्यस्थ ठहराया गया।

सुभाष और भगतराम, दोनों को ही सराय में पड़े रहना अब बहुत खतरनाक लग रहा था। जैसे तैसे भगतराम ने पेशावर के अपने पुराने परिचित उत्तमचन्द मल्होत्रा को ढूंढ़ निकाला, जो काबुल में व्यापार करते थे। इस तरह मध्य फरवरी में सुभाष उत्तमचन्द के घर पहुंचे और एक कमरे में बंद हो गये। यह एक मित्रवत और सुखद आश्रयस्थल था। लेकिन काबुल-प्रवास की अनंतता से वे चिढ़े से रहने लगे थे। हताश होकर वे अफगान-रूस सीमा-क्षेत्र में रहनेवाले पेशावर के एक भगोड़े की मदद से, अपने ही बूते, सोवियत संघ में घुसने की योजना भी बनाने लगे थे। इस योजना का सिर-पैर जुड़ने से पहले ही, 23 फरवरी को, सीमंस कार्यालय की मार्फत उन्हें संदेश मिला कि भावी व्यवस्था के सिलसिले में वे इतालवी दूतावास के मिनिस्टर अलबर्टो कारोनी से संपर्क करें। कारोनी से सुभाष की पहली मुलाकात पूरी रात खिंची। भावी संघर्ष की टेकनीक के संबंध में सुभाष के मस्तिष्क में सारी चीजें एकदम सुनिश्चित थीं। कारोनी से उन्होंने कहा कि उनकी योजना यूरोप में स्वतंत्र भारत की सरकार स्थापित करने और जर्मनी तथा इटली में भारतीय युद्धबंदियों को भरती करके भारतीय मुक्ति सेना गठित करने की है। कारोनी ने बड़ी अच्छी रिपोर्ट रोम भेजी। निश्चय किया गया कि संदेश को देने-लेने के लिए समय समय पर श्रीमती कारोनी उत्तमचन्द की दुकान पर पहुंचा करेंगी।

जर्मनी और इटली की सरकारों ने रूस के रास्ते यात्रा की संभावना व्यक्त करते हुए सुभाष को यूरोप भेजने के सवाल पर सोवियत सरकार से बातचीत की। और जब मास्को में यह गुप्त विचार-विमर्श चल रहा था तो काबुल में बैठे सुभाष भी समय का सदुपयोग कर रहे थे। उन्होंने अफगानिस्तान और कबायली क्षेत्रों में भावी कार्रवाइयों को दृष्टिगत रखकर भरोसे के संपर्क जुटाने शुरू कर दिये थे। सोवियत सरकार की सहमति मिलने में करीब चार हफ्ते लग गये। तीनों पक्षों को स्वीकार्य फार्मूले के अनुसार, रूसी क्षेत्र में सुभाष चन्द्र को काबुल स्थित इतालवी दूतावास के अधिकारी ओर्लैंडो मैजोटा के प्रतिरूप में इतालवी कूटनीतिक परिपत्र से यात्रा करनी थी। काबुल से उनके वास्तविक प्रस्थान से प्रायः एक हफ्ता पहले, श्रीमती कारोनी एक जरूरी संदेश लेकर उत्तमचन्द की दुकान पर आयीं। मैजोटा के असली परिपत्र पर मैजोटा की जगह सुभाष की फोटो चिपकायी गयी। उनके लिए कपड़े जुटाये गये। गूंगे-बहरे पठान की जगह अब उन्होंने एक इतालवी कूटनीतिज्ञ का वेष बनाया। 17 मार्च को सुभाष चन्द्र इतालवी दूतावास के मिस्टर क्रेसिनी के निजी आवास में रहने चले गये। और अगले दिन सुबह वे तीन जर्मनों के साथ, कार से, सोवियत सीमा की ओर चल दिये। हिंदुकुश के दर्रों से ऊपर चढ़ते और हरे-भरे विस्तृत मैदान लांघते, दो रातें उन्होंने जर्मन मेजबानों के यहां बितायीं। आक्सस[1] पार करके अफगान सीमांत चौकी से वे सीधे समरकंद पहुंचे। समरकंद से रेलगाड़ी द्वारा मास्को आये और मास्को से, अप्रैल, 1941 के शुरू में, हवाईजहाज द्वारा बर्लिन पहुंच गये।

इधर, 31 मार्च, 1941 को भगतराम तलवार ने सुभाष चन्द्र बोस के घर नं0 1, वुडबर्न पार्क, कलकत्ता पहुंचकर कहा कि वह शिशिर से मिलने आया है। शिशिर अविलंब पिता को भी बुला लाया। भगतराम के पास तीन दस्तावेज थे : भैया शरत् के नाम बांग्ला में लिखा सुभाष का एक पत्र; एक राजनीतिक आलेख 'फारवर्ड ब्लाक—इसकी संगति', और 22 मार्च, 1941 को 'यूरोप में कहीं' से लिखा 'देशवासियों के नाम संदेश'। तीनों चीजें सुभाष ने विवशता-भरे काबुल-प्रवास के दौरान लिखी थी। अगली सुबह विक्टोरिया मेमोरियल गार्डंस में शरत्चन्द्र से मिलकर भगतराम ने पेशावर से लेकर रूसी सीमा लांघने तक की पूरी दास्तान उन्हें सुनायी। भावी संपर्क आदि के लिए शरत्चन्द्र ने उसे प्रतिष्ठित कांग्रेसी नेता और सुभाष चन्द्र के विश्वस्त सहायक सत्यरंजन बख्शी से मिलवा दिया। कलकत्ता स्थित जापानी कांसुलेट जनरल की गुपचुप मदद से, टोकियो के रास्ते भेजे जानेवाले बेतार संदेशों के जरिये बोस बंधुओं में नवंबर, 1941 तक आपसी संपर्क बना रहा।

यह पता आज तक नहीं चला कि बर्लिन जाते समय अल्पकालिक मास्को-प्रवास में

1. या अखसूस। यह हिंदुकुश से उतरकर आराल सागर में गिरनेवाली 1,500 मील लंबी नदी—आमू दरिया—का प्राचीन नाम है।

सुभाष चन्द्र और सोवियत सरकार के बीच कोई बातचीत हुई थी या नहीं। अलबत्ता, काबुल में लिखे प्रबंध में उन्होंने सोवियत संघ को विश्व की महानतम क्रांतिकारी शक्ति बताया था; और कामना की थी कि भविष्य में भी वह भारतीय स्वाधीनता संग्राम में भौतिक हस्तक्षेप की सीमा तक सक्रिय समर्थन देगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यूरोप और पूर्व एशिया में सुभाष चन्द्र की गतिविधियों को तीन मूल तत्वों के संदर्भ में समझना होगा—एक, उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता; दो, इस प्रतिबद्धता के संदर्भ में उनका सामाजिक उद्देश्य; और तीन, तत्कालीन अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में निर्धारित उद्देश्य की उपलब्धि के सर्वाधिक अनुरूप युद्ध-कला। उनकी वैचारिक प्रतिबद्धता दो संपूरक तत्वों का सम्मिश्रण थी—संपूर्ण राष्ट्रीय स्वाधीनता; और स्वाधीनता के लिए साम्राज्यवाद विरोधी समझौताविहीन संघर्ष, जिससे पूर्णतया आधुनिक समाजवादी राज्य व्यवस्था की स्थापना का मार्ग प्रशस्त हो सके। स्वाधीनता संग्राम का जो उद्देश्य उन्होंने निर्धारित किया था, वह ब्रिटेन की भारत में स्थिति और द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की यथातथ्य जांच-परख पर आधारित था। वे मानते थे कि भारत तो क्रांति के लिए तैयार है, लेकिन राष्ट्रप्रतिष्ठित भारतीय नेता—जिनमें दक्षिणपंथी भी हैं और वामपंथी भी—अंग्रेजों से जूझने के इच्छुक नहीं हैं। इन परिस्थितियों में सुभाष चन्द्र ने इस प्रमुख आधार को मिटाने का फैसला किया, जिसने भारत में ब्रिटिश राज को टिका रखा था—भारतीय सेना की वैतनिक राजभक्ति। सामरिक लक्ष्य था—अंतर्राष्ट्रीय युद्ध-संकट का लाभ उठाते हुए सेना की इस राजभक्ति को ध्वस्त किया जाये और उसमें भारतीय स्वाधीनता के प्रति भक्ति-भाव जगाया जाये। उनकी युद्ध-नीति के तत्व थे—ब्रिटेन के शत्रुओं द्वारा नियंत्रित व्यवस्था क्षेत्रों और उन व्यवस्थाओं द्वारा मुहैया सुविधाओं का सदुपयोग करके क्रांतिकारी मुक्तिवाहिनी का गठन; और जैसे भी हो मुक्तिवाहिनी का भारत में प्रवेश।

जर्मनी पहुंचने के एक सप्ताह बाद सुभाष चन्द्र ने जर्मन सरकार को भारत, भारत के स्वाधीनता आंदोलन तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारत-जर्मन सहयोग के संबंध में एक व्यापक विवरणपत्र दिया। इसमें प्रस्तावित पहली प्रावस्था थी यूरोप में 'फ्री इंडियन गवर्नमेंट', यानी स्वाधीन भारत सरकार की स्थापना तथा फ्री इंडियन गवर्नमेंट और जर्मनी एवं इटली के बीच संधि, जिसके तहत युद्ध में विजयी होने पर ये दोनों भारत की स्वाधीनता के जामिन होंगे। उन्होंने उन कार्रवाइयों की रूपरेखा भी सामने रखी, जिनकी अफगानिस्तान, कबायली अमलदारियों तथा खुद भारत में व्यवस्था करनी होगी। वित्त-प्रबंध के बारे में उन्होंने सुझाया कि आवश्यक सहायता भारत ऋण के रूप में ग्रहण करेगा और युद्ध के बाद स्वतंत्र भारत की सरकार इसे चुकता करेगी। सुभाष चन्द्र ने ब्रिटिश इंडियन आर्मी में बगावत फैलाने और, निर्णायक समय आने पर, आम विद्रोह की अगुआई करने के लिए

Please Donate to Support This Project.

A small donation from you can decide the future of Hindi.

HELP US HELP HINDI.

Donate Only Rs.500

Click To Donate via Netbanking or Debit/Credit Card (100% secure).

Or Contact - preetam960@gmail.com

Or 08869800176

एक सशस्त्र बल के गठन का प्रस्ताव भी रखा। उन्होंने भारत-निर्दिष्ट रेडियो-प्रचार की सुविधा भी मांगी। तीन सप्ताह बाद उन्होंने मूल विवरणपत्र का एक पूरकपत्र भी भेजा। उसमें उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीय स्वाधीनता के विषय में जर्मन सरकार की आम घोषणा अत्यंत प्रभावकारी होगी। लेकिन सुभाष के ज्ञापनों का जर्मन विदेश विभाग ने शीघ्र और अनुकूल उत्तर नहीं दिया, अतः वे उन दृढ़निश्चयी भारतीयों को संगठित करने में जुट गये, जो या तो जर्मनी में अथवा अन्य यूरोपीय देशों में निर्वासन काट रहे थे, या फिर छात्र थे। मैत्रीपूर्ण संपर्क स्थापित करने तथा अपने अनुयायीवर्ग में वृद्धि की दृष्टि से उन्होंने इटली, फ्रांस तथा आस्ट्रिया आदि देशों के दौरे भी किये।

28

हालांकि सुभाष चन्द्र के जर्मनी आने पर जर्मन सरकार या नात्सी पार्टी के ऊंचे हलकों ने कोई उत्साह नहीं दिखाया, मगर जर्मन विदेश कार्यालय के नवस्थापित सूचना खंड–इंफार्मेशन सेक्शन–के सदस्यों की प्रतिक्रिया सौभाग्य से कुछ भिन्न थी। नौकरीपेशा राजनयिकों के अलावा इस विभाग में ब्रिटेन, ब्रिटिश साम्राज्य, दक्षिण-पूर्व एशिया तथा अमरीका के बारे में विशेष ज्ञान रखनेवाले बहुत से विशेषज्ञ भी नियुक्त किये गये थे। विभाग का निदेशक था–एडम वान ट्राट, जिसने आक्सफोर्ड में शिक्षा पायी थी और जो भारत की समस्या का खासा जानकार था। उसके डिप्टी अलैक्जैंडर वर्ट ने भी इंग्लैंड में बैरिस्टरी की थी और भारत के प्रति गहरी सहानुभूतिपूर्ण रुचि रखता था। ये दोनों ही सुभाष के अंतरंग मित्र बन गये; उनकी आकांक्षाओं के साथ संवेदना रखने लगे और हर संभव तरीके से उन्हें लक्ष्य तक पहुंचाने का प्रयास करते। सुभाष चन्द्र की मदद से जर्मन सरकार के आला अफसरों को भारतीय स्वाधीनता संग्राम से परिचित कराना और उनमें से कइयों के भीतर एशियाई जनता के प्रति मौजूद जातीय पूर्वाग्रहों को दूर करना–इन्हीं दोनों सज्जनों का काम था। नात्सी पार्टी के सदस्यों से सुभाष की अप्रीतिकर मुलाकातों पर रोक भी इन्हीं दोनों का कर्तव्य था। लेकिन एक कठिनाई भी उनके सामने थी और वह यह कि भारत में सुभाष का जो स्तर है, प्रतिष्ठा और गौरव है, जर्मनी में भी उसी के अनुरूप उन्हें पद-प्रतिष्ठा दी जाये।

सन् 1941 के मध्य से एक नया कारक सुभाष के हक में आ खड़ा हुआ। भारतीय निर्वासित जन बड़ी संख्या में जर्मनी में शरण लेते रहे थे और उत्तरी अफ्रीका से भारतीय युद्धबंदी भी तांता लगाये रहते थे। जर्मनों ने पाया था कि ये सब मूलतया ब्रिटिश-विरोधी सोच-विचार के हैं, लेकिन उन्होंने अपनी तरफ से इस वास्तविकता को जर्मन हित में इस्तेमाल करने की कोई कोशिश नहीं की थी। सुभाष चन्द्र के आगमन और सूचना विभाग के उनके मित्रों के समझाने-मनाने के फलस्वरूप जर्मन सैनिक नेतृत्व तथा विदेश कार्यालय में इस स्थिति की संभावनाओं के प्रति नयी सजगता देखने में आयी। सूचना विभाग में बहुत जल्द एक 'वर्किंग ग्रुप इंडिया' गठित किया गया, जिसे अंततः 'स्पेशल इंडिया डिपार्टमेंट' बनाकर वान ट्राट और वर्ट के सीधे नियंत्रण में दे दिया गया। धीरे धीरे जर्मन विदेश कार्यालय

और जर्मन सैनिक कमान में सुभाष चन्द्र की मित्रमंडली विशाल होती गयी। उन्हें महसूस हुआ कि यह शख्स असाधारण इच्छाशक्ति रखता है और इसकी चारित्रिक अखंडता तथा ईमानदारी असंदिग्ध है। उन्होंने यह भी समझ लिया कि वह नात्सी पार्टी के तथाकथित उच्चस्तरीय नेताओं की कोई सनक बर्दाश्त नहीं करेगा और न ही भारतीय स्वाधीनता के सवाल पर किसी तरह झुकने या समझौता करने को तैयार होगा।

जून, 1941 में जब जर्मनी ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया तो सुभाष रोम में थे। उन्होंने फौरन जर्मन विदेश कार्यालय को बता दिया कि भारत की दृष्टि में जर्मनी आक्रांता है और भारतीयों की सहानुभूति रूसियों के साथ है, क्योंकि सोवियत संघ को वे साम्राज्यवाद-विरोधी शक्ति मानते हैं। जर्मनों को प्रेषित अपने ज्ञापनों में भी उन्होंने स्पष्ट कहा कि भारतीय स्वाधीनता की योजना को कार्यान्वित करने के लिए उन्हें सोवियत रूस की अप्रत्यक्ष सहायता अभीष्ट होगी।

सुभाष चन्द्र ने भारत में उत्तर-पश्चिम से सशस्त्र प्रवेश की योजना बनायी थी, जिसका आधार यह था कि जर्मनी और सोवियत रूस में अनाक्रमण की स्थिति बनी रहेगी। फिर भी, अपने सामरिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे अत्यंत प्रतिकूल परिस्थिति का भी बेहतरीन उपयोग करना चाहते थे। 1941 के अंत में बर्लिन में वे 'फ्री इंडिया सेंटर' स्थापित करने में सफल हो गये। इसमें उनके अत्यंत कुशल एवं निष्ठावान सहयोगियों में से कुछ थे–ए.सी.एन. नांबियार, एन.जी. गणपुले, आबिद हसन, एन.जी. स्वामी, एम.आर. व्यास तथा गिरिजा मुखर्जी। 'फ्री इंडिया सेंटर' को विदेशी दूतावास का दर्जा दिया गया और इसके तमाम सदस्य विदेशी कूटनयिकों को मिलनेवाली सभी सुविधाओं के हकदार थे। सेंटर की विभिन्न गतिविधियां निम्नलिखित थीं–

1. आजाद हिंद रेडियो, नेशनल कांग्रेस रेडियो तथा आजाद मुस्लिम रेडियो के प्रसारणों का आयोजन;
2. द्वैभाषिक पत्रिका 'आजाद हिंद' का जर्मन तथा अंग्रेजी में संपादन-प्रकाशन; पत्रिका यूरोप भर में वितरित होती थी और इसमें भारत की राजनीति, अर्थव्यवस्था, संस्कृति तथा कलाओं के हर संभव पक्ष पर रपटें और लेख होते थे;
3. जर्मनी की भारतीय बिरादरी का संगठन और उसकी कुशल-क्षेम की चिंता;
4. यूरोप के तमाम फ्री इंडिया सेंटरों की गतिविधियों में तालमेल;
5. उत्तरी अफ्रीका से आये भारतीय युद्धबंदियों को भर्ती करके बनायी जा रही इंडियन लीजन अथवा इंडियन नेशनल आर्मी–आजाद हिंद फौज–से तालमेल और निकट संपर्क स्थापित करना और फौजी हितों की देखभाल करना;

6. फ्री इंडिया सेंटरों तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की इंडियन इंडिपेंडेंस लीग में तालमेल के लिए एक समन्वय केंद्र की स्थापना। (मध्य फरवरी, 1942 में सिंगापुर के पतन के बाद लीग का महत्व बहुत बढ़ गया था)।

'फ्री इंडिया सेंटर' ने स्वाधीन भारत के सामाजिक एवं आर्थिक पुनर्गठन के लिए एक योजना आयोग भी बनाया था। कांग्रेसी तिरंगे पर उभरवां नक्काशी में छलांग लगाते शेरवाला अपना अधिचिह्न भी सेंटर ने खुद ही आकल्पित किया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर रचित 'जन-गण-मन' को सेंटर ने भारत का राष्ट्रगान घोषित किया; और आधुनिक भारतीय इतिहास में पहली बार समूचे देश के साझे और लोकप्रिय अभिवादन 'जय-हिंद' का रिवाज शुरू हुआ। सुभाष चन्द्र को अब 'नेताजी' की उपाधि दी गयी, जो स्नेह और सम्मान की मिली-जुली अभिव्यक्ति थी। फरवरी, 1942 में सिंगापुर के पतन के तत्काल बाद भारत में सुभाष चन्द्र के रेडियो-प्रसाारण शुरू हुए। अपने पहले प्रसारण में उन्होंने देशवासियों से कहा था : "भारत की मुक्ति का समय आ पहुंचा है। भारत उठेगा और गुलामी की उन जंजीरों को काट फेंकेगा जो एक जमाने से उसे जकड़े हुए हैं। भारत की मुक्ति के रास्ते ही एशिया और विश्व के अन्य देश मानव-मुक्ति के वृहत्तर लक्ष्य की ओर आगे बढ़ेंगे।"

इंडियन लीजन[1] संपूर्णतया स्वयंसेवी सेना थी। सैनिक देशप्रेम की भावना और साधना के आधार पर भर्ती किये जाते थे और भारतीय युद्धबंदियों की जांच-परख 'नेताजी' अक्सर स्वयं करते थे। हिंदू, सिख, मुसलमान, पंजाबी, मराठे, बंगाली और अन्य तमाम समुदायों को वर्ग, धर्म और वर्ण के भेद-भाव के बिना सुगठित यूनिटों में नियुक्त किया जाता था।

सोवियत-जर्मन युद्ध ने भारत के उत्तर-पश्चिम सीमा प्रदेश में इंडियन लीजन द्वारा अपनी क्रांतिकारी भूमिका निभाने की संभावना मटियामेट कर दी थी, तथापि 1944 में फ्रांस पहुंचने पर लीजन ने आंग्ल-अमरीकी सेना का शौर्यपूर्वक सामना किया था।

दिसंबर, 1941 में सुदूर-पूर्व में भी युद्ध शुरू हो गया और जापानी सेनाओं के द्रुत एवं चमत्कारी विजय-अभियान के फलस्वरूप फरवरी, 1942 में सिंगापुर पर कब्जा कर लिया गया। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में इस सबसे एक नये क्षितिज का उदय हुआ। नेताजी तत्काल पूर्व जाकर और सशस्त्र बल का गठन करके पूर्वी सीमा से भारत में घुसने की सोचने लगे। जापानी सेना जब भारत के द्वार—बर्मा—पर जमी हुई थी तो, मई, 1942 में, उन्होंने जर्मन विदेश कार्यालय को लिखा : "...वक्त आ गया है कि भारत के राजनीतिक

1. प्राचीन रोम में तीन से छह हजार पैदल सैनिकों और थोड़े से घुड़सवार सैनिकों की गारदें। कुछ देशों में लीजन भूतपूर्व सैनिकों की संस्था को भी कहा जाता है, और कहीं कहीं स्वयंसेवी सैनिकों के जत्थे भी लीजन कहे जाते हैं। सुभाष की सेना पर आखिरी व्याख्या खूब जमती थी।

उद्धार के लिए निर्णायक प्रयास किया जाये। इसके लिए यह पूर्णतया अनिवार्य है कि मैं पूरब में रहूं।"

इधर भारत में कांग्रेस ने अप्रैल-मई, 1942 में, गांधी जी की प्रेरणा से स्वतंत्रता की बात किये बिना युद्धकालीन समझौते के तथाकथित क्रिप्स-प्रस्ताव ठुकरा दिये थे। इससे भी बढ़कर, नेताजी को संतोष यह था कि महात्मा गांधी भी अब अंग्रेजों से निर्णायक संघर्ष की ओर बढ़ने लगे थे। कांग्रेस प्रस्ताव के मूल मसौदे में गांधी जी ने कहा, "भारतीय सेना एक अलग-थलग समूह है, जो भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता (और) जिसे भारतीय जनता किसी भी अर्थ में अपना नहीं मान सकती। जापान की लड़ाई भारत से नहीं है। भारत स्वतंत्र होता तो उसका पहला काम शायद जापान से सुलह-वार्ता होता।" इस प्रकार इतिहास की निर्मम तर्क-क्रीड़ा के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की दो प्रमुख धाराएं धीरे धीरे करीब आती जा रही थीं; और अंत में एक दूसरे में समाहित होकर, अगस्त, 1942 का महाविप्लव पैदा करनेवाली थीं, और जिसकी पराकाष्ठा होनी थी 1944 में आजाद हिंद फौज के वीरतापूर्ण आक्रमण में।

मई, 1942 में नेताजी पहली और आखिरी बार एडोल्फ हिटलर से मिले थे। उस मुलाकात से वे संतुष्ट नहीं थे, लेकिन उसका एक लाभ यह अवश्य हुआ कि हिटलर नेताजी को पूर्वी क्षेत्र में जाने तक की यात्रा सुविधा मुहैया करने पर सहमत हो गया। नेताजी की एक और जोखिम भरी यात्रा की निष्णात योजना तैयार करने के लिए जर्मन और जापानी सैनिक कमानों में खूब लंबी और अत्यंत गोपनीय बातचीत हुई—और उन्हें एक पनडुब्बी में बिठाकर जर्मनी से सुदूर-पूर्व पहुंचाया गया।

29

26 जनवरी, 1943 को बर्लिन में भारतीय स्वाधीनता दिवस भव्य स्तर पर मनाया गया, जिसमें नेताजी ने मुख्य भाषण दिया। दो दिन बाद इंडियन लीजन से उन्होंने आखिरी बार मुलाकात की। इसके बाद वे यूरोप में कभी नहीं दिखे। 8 फरवरी, 1943 को वे आबिद हसन के साथ उत्तर-जर्मन बंदरगाह कील पहुंचे, जहां विदेश कार्यालय के सेक्रेटरी आफ स्टेट हर कैप्लर, नांबियार और वर्ट ने उनकी अगवानी की।

दूसरी बार अज्ञात भविष्य की ओर बढ़ने से पहले उन्होंने भैया शरत् को बांग्ला में लिखे पत्र द्वारा एक हृदयस्पर्शी संदेश दिया। कहा कि अपनी अनिश्चयभरी यात्रा से मैं शायद जिंदा न लौटूं। अपनी अर्धांगिनी और बेटी को यूरोप में ही छोड़े जा रहा हूं; इन्हें वैसा ही स्नेह और संरक्षण दीजियेगा जैसा मुझे आप आजीवन देते रहे हैं।

9 फरवरी को, मुंह अंधेरे, कमांडर मू[illegible] ने अपनी पनडुब्बी पर नेताजी और आबिद हसन का स्वागत किया। दोनों के भीतर घुसते ही पनडुब्बी के द्वार बंद हो गये और वह समुद्र-गर्भ में अदृश्य हो गयी। यह छोटी, टाइप-नौ पनडुब्बी थी। भीतर डीजल की दुर्गंध से दम घुट रहा था। नेताजी की शायिका गलियारे की एक कोठरी में थी। खाने की चीजों से भी डीजल की बदबू आ रही थी। इसी वातावरण में नेताजी को तीन महीने गुजारने थे। पनडुब्बी ने पहले डेनमार्क की जलसीमा पार की, फिर नार्वे और उत्तरी सागर का छोटा सा हिस्सा लांघा और अंत में अटलांटिक महासागर में जा निकली। यात्रा के प्रारंभ में रक्षक पनडुब्बियों और एक सुरंगभेदी पोत का दल उनके साथ था, लेकिन जर्मनी-नियंत्रित समुद्र से निकलते ही उनकी पनडुब्बी किसी भी समुद्री अथवा हवाई आक्रमण के खतरे को गले लगाये चलने लगी। रोज रात को बैटरियां चार्ज करने वह सतह पर आती और दिन निकलते ही फिर से समुद्र में गुम हो जाती। समुद्री यात्रा शुरू करने से पहले ही नेताजी से साफ साफ कह दिया गया था कि रास्ते में उनकी सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं दी जा सकती, इसलिए सारा जोखिम उनका अपना होगा। यह शर्त उन्होंने निःसंकोच स्वीकार कर ली थी।

पनडुब्बी में स्थिति अत्यंत कष्टकारी थी, इसके बावजूद नेताजी एक भी दिन निष्क्रिय नहीं रहे। पहले दिन से ही वे पूर्व-एशिया में अपने संघर्ष की अनेक सुविचारित योजनाओं

का जायजा लेने और उनका खाका बनाने में व्यस्त हो गये। और, जैसी कि उनकी आदत थी, यह सब उन्होंने बारीक से बारीक ब्यौरे समेत समग्रता से किया। एक दिन जब वे अपनी चहेती योजना—रानी झांसी रेजीमेंट—का ताना-बाना बुनने में लीन थे तो शत्रुपक्ष का एक मालवाहक नजर आ गया और पनडुब्बी में धावा बोलने के आदेश गूंजने लगे। लेकिन नियंत्रण-कक्ष के फौजी की भूल से पनडुब्बी सतह पर आ गयी और उसे देखते ही मालवाहक अपनी दिशा बदलकर उसे रौंद देने के लिए आगे बढ़ा। कप्तान चीखा—"डुबकी!" लेकिन गलती चूंकि हो चुकी थी इसलिए उसके आदेश पर तत्क्षण अमल नहीं हो पाया। फलस्वरूप कुछ ही पलों के अंतर से पनडुब्बी का सर्वनाश टल सका। स्वाभाविक है कि सब डर गये थे लेकिन आबिद हसन ने देखा—हर कोई नहीं डरा था। कई चेहरों पर जब मौत नाचने लगी और खुद आबिद की धड़कन भी बंद-सी हो गयी थी, तो नेताजी ने उसे झिड़का था, "हसन, मैंने एक बात दो बार दोहरायी है और तुमने अभी तक नोट नहीं की !" इसी बीच शत्रु-पोत गरजता हुआ ऐन पास से निकल गया था और अभी अभी गोता खानेवाली पनडुब्बी ने एक जबरदस्त हिचकोला खाया था। बाद में कप्तान ने नाविक-दल से कहा कि उन सबको अपने विशिष्ट भारतीय अतिथि और उनके सहायक से सबक सीखना चाहिए कि मौत की तरह आनेवाले आकस्मिक संकट का भी कैसी स्थिरता से सामना करना चाहिए।

शत्रुओं के जलपोतों और विमानों को धता बताती पनडुब्बी ने अटलांटिक पार किया, कुमारी अंतरीप का चक्कर काटा और मध्य अप्रैल में हिंद महासागर में प्रवेश किया। नेताजी को आगे ले जानेवाली जापानी पनडुब्बी से जर्मन पनडुब्बी का मिलन दक्षिण-पश्चिमी मैडागास्कर से करीब चार सौ नाटिकल मील दक्षिण में, मोजांबिक चैनल में तय था। जापानी पनडुब्बी, पेनांग से, निर्धारित समय से करीब आधा दिन पहले वहां पहुंच गयी थी। I-29 टाइप इस पनडुब्बी का कमांडर था जुइची इजू। घंटों पानी में आवारागर्दी करने के बाद उसे गहराते अंधेरे में से उभरती जर्मन पनडुब्बी दिखी। दोनों को सूर्योदय तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। लेकिन भोर होते होते समुद्र इतना क्षुब्ध हो उठा कि दोनों पनडुब्बियों का एक-दूसरे के निकट आना असंभव हो गया। रेडियो-संवाद में बेहद खतरा था। लाचार, दो जर्मन समुद्र में कूद गये और तैरते हुए जापानी पनडुब्बी तक जा पहुंचे। दोनों पनडुब्बियों में अब हाथ हिलाहिलाकर संकेत-वार्ता तो होने लगी, मगर समुद्र और प्रचंड होता जा रहा था। अंत में दोनों जर्मन रबड़ के बेड़े पर सवार हुए और नाव खींचनेवाली एक मजबूत रस्सी[1]

1. उन दिनों ऐसी रस्सियां हैंप नामक पौधे के तने से प्राप्त रेशों से बनायी जाती थीं। हैंप भांग वनस्पति का समकक्ष है। कई बार हैंप की रस्सी को सन की रस्सी भी लिखा बताया गया है। जर्मनों ने यहां 'हैंप की रस्सी' इस्तेमाल की है।

से कांटा डालकर पनडुब्बी को घसीटने लगे। नेताजी और आबिद इस रस्सी से चिपके-लटके, आसमान बेधती लहरों और घात लगाये शार्क मछलियों के बीच से, इंच इंच सरकते हुए जर्मन पनडुब्बी से रबड़ के बेड़े[1] पर पहुंचे; और फिर जापानी पनडुब्बी पर। यह अदल-बदल 24 अप्रैल को हुई थी, जिसकी रेडियो-सूचना तत्काल बर्लिन को दे दी गयी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समूचे ज्ञात इतिहास में शत्रु के हवाई और समुद्री वर्चस्ववाले क्षेत्र में, पनडुब्बी से पनडुब्बी पर यात्रियों के तबादले का यही एक दृष्टांत है। ब्रिटिश गश्ती समुद्र से निकल आने पर जापानी पनडुब्बी को रेडियो-आदेश मिला कि यात्री सुमात्राई समुद्र-तट से दूर, उत्तर में, अलग-थलग टापू साबांग पर उतार दिये गये। साबांग में नेताजी और आबिद को संगरोधक—क्वैरंटाइन—टीके लगाकर कुछ दिन आराम कराया गया, फिर 13 मई, 1943 को हवाईजहाज से टोकियो पहुंचाया गया। दोनों वहां के प्रसिद्ध इंपीरियल होटल में ठहराये गये।

लंबी पनडुब्बी-यात्रा के दौरान एक तो नेताजी ने जापानी नेताओं से होनेवाले साक्षात्कार की तैयारी की थी। दूसरे, मन ही मन अपनी भावी मुख्य योजना—पूर्व-एशिया के विकराल एवं विषम भारतीय जनसमूह में से ब्रिटिश शक्ति से लोहा लेने में समर्थ एक सुसंगठित एवं अनुशासित सैन्य बल के निर्माण की समस्याएं सुलझा ली थीं।

नेताजी ने जापानी प्रधानमंत्री तोजो से शिखर-वार्ता की तैयारी में पूरा एक महीना बिताया। इस बीच वे जापानी सेना की सभी शाखाओं के तमाम महत्वपूर्ण अधिकारियों, महत्वपूर्ण राजनयिकों, कूटनयिकों, बौद्धिकों तथा प्रतिष्ठित जननायकों से मिलते रहे। उन्होंने औद्योगिक संस्थानों, फार्मों, स्कूलों तथा विभिन्न सार्वजनिक उद्यमों का अवलोकन भी किया। कहते हैं कि मध्य जून, 1943 में, दोनों की पहली मुलाकात में प्रधानमंत्री तोजो पर 'बोस का जादू' पूरी तरह छा गया और उसने नेताजी की अधिकांश मांगें मान लीं। दो मुलाकातों के बाद तोजो ने नेताजी को दाईत—संसद—में आमंत्रित किया, जहां उनकी मौजूदगी में उसने संपूर्ण स्वाधीनता पाने के भारतीय लक्ष्य के प्रति बिना शर्त, पूरे समर्थन की अधिकृत घोषणा की। किसी भी विदेशी शक्ति के शासन-प्रमुख द्वारा, द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान, यह अपने किस्म की पहली और एकमात्र घोषणा थी। न स्वयं नेताजी हिटलरवादी जर्मनी से ऐसा ऐलान करवा सके, न गांधी जी ब्रिटिश सरकार या उसके संधिबद्ध मित्रों से इस किस्म का कोई वादा करवा पाये।

पहले दौर में किसी विजय के बाद नेताजी ने जापान में अपनी मौजूदगी जग-जाहिर कर दी। यह खबर सुनकर एशिया भर के भारतीय रोमांचित हो उठे और दुश्मन के खेमे

---

1. रबड़ राफ्ट

में भारी बेचैनी छा गयी। नागरिक-रेडियो पर प्रसारित अपने उत्प्रेरक भाषण में उन्होंने पूर्व-एशिया के भारतीयों से देश के आगामी स्वतंत्रता संग्राम को सक्रिय और संपूर्ण समर्थन देने का आग्रह किया। प्रसारण में उन्होंने कहा—

> स्वदेश में हमारे देशवासी तथा बहन-भाई मौजूदा हालात से भरसक जूझ रहे हैं, लेकिन शत्रु निर्मम है और उन्मत्त है, और ऐड़ी से चोटी तक हथियारबंद है। ऐसे पशुवत शत्रु के मुकाबले किसी भी परिमाण में सविनय अवज्ञा या अंतर्ध्वंस या क्रांतिकारी आतंकवाद का कोई परिणाम नहीं होगा...वह तलवार खींच चुका है, इसलिए हमें भी तलवार से ही मुकाबला करना होगा। लेकिन स्वदेश में लोगों के लिए सशस्त्र विद्रोह संगठित करके आधुनिक शस्त्रों से लैस, जबरन काबिज ब्रिटिश फौज से भिड़ना संभव नहीं है। इसलिए यह काम भारत के बाहर बसे, खासकर पूर्व-एशिया में बसे भारतीयों को अपने जिम्मे ले लेना चाहिए...
>
> वक्त आ चुका है, और हर देशप्रेमी भारतीय को संग्राम-स्थल की ओर चल ही देना चाहिए। स्वतंत्रता प्रेमी भारतीयों का खून बहने पर ही अब भारत स्वतंत्र होगा।

भारत के दक्ष क्रांतिकारी रासबिहारी बोस के साथ, 3 जुलाई, 1943 को सिंगापुर पहुंचने पर आजाद हिंद फौज—इंडियन नेशनल आर्मी—के अफसरों और इंडियन इंडिपेंडेंस लीग के सदस्यों ने नेताजी का उत्साहपूर्ण स्वागत किया।

30

नेताजी के पूर्व-एशिया पहुंचने से पहले, एक वर्ष के दौरान, देशभक्त भारतीयों ने भारतीय स्वाधीनता आंदोलन संगठित करने के महत प्रयास किये थे। मोहन सिंह की पहलकदमी पर, इवाइची फूजीवारा नामक युवा जापानी अफसर के दृढ़ एवं स्फूर्त सहयोग से, आई. एन.ए.–इंडियन नेशनल आर्मी–की कमान मोहन सिंह के हाथों में ही थी, जबकि इंडियन इंडिपेंडेंस लीग के नेता रासबिहारी बोस थे। लेकिन दुर्भाग्यवश, नेतृत्व की अपर्याप्तता और अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अनुभवहीनता के कारण आंदोलन टूट गया था। नेताजी आये तो आंदोलन अस्तव्यस्त था और आई.एन.ए. निर्जीवप्राय थी। लेकिन अब जरा सा भी वक्त गंवाये बिना वे पूर्व एशिया के स्वाधीनता आंदोलन को पुनर्गठित कर बलिष्ठ बनाने तथा आई.एन.ए., यानी आजाद हिंद फौज को नये सिरे से खड़ा करने के अनवरत, अथक एवं अग्रणी प्रयासों में जुट गये।

4 जुलाई, 1943 को इंडियन इंडिपेंडेंस लीग के पूर्व-एशिया भर के प्रतिनिधियों की सिंगापुर में आम बैठक बुलायी गयी। यहां अपनी विशाल हृदयता और राजकुशल सद्भावना दिखाते हुए रासबिहारी बोस ने समूचे आंदोलन का नेतृत्व नेताजी को सौंप दिया। लीग के नये अध्यक्ष के रूप में नेताजी ने अपने वक्तव्य में स्वदेशवासी भारतीयों के वीरतापूर्ण संघर्ष का उल्लेख करते हुए पूर्व-एशियावासी भारतीयों के कर्तव्य इस प्रकार स्पष्ट किये : "...यों भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास में अगस्त, 1942 अविस्मरणीय रहेगा–सत्याग्रह से समराग्रह के मानसिक संक्रमण के प्रतीकस्वरूप...इसलिए अब समय आ गया है कि हम अपनी लड़ाई के अगले दौर की ओर बढ़ें। हमारे संगठन का उद्देश्य और प्रयोजन है–ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध शस्त्र उठाना।" सभी श्रोता नेताजी की वाग्मिता से मंत्रमुग्ध हो उठे। उन्होंने लोगों के मन-मस्तिष्क से सीधे, दो टूक शब्दों में बात की थी। सरल भाषा में उन्होंने अपने क्रांतिकारी जीवन का निचोड़ पेश कर दिया था। श्रोताओं से उन्होंने कहा कि निर्णायक स्वाधीनता संग्राम छेड़ने में दो चीजों की कसर है–पहली, लड़नेवाली सेना की; और दूसरी, अंतरिम सरकार की, जिसके तत्वावधान में सेना लड़ेगी। पूर्व-एशियाई भारतीयों ने अपने चुने हुए नेता को भरपूर सहयोग दिया। जिस राष्ट्रीय तिरंगे को ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने अगस्त, 1942 में पैरों तले कुचला और रौंदा था, पूर्व-एशियाई

भारतीयों ने उसे फिर से ऊंचा लहराकर लड़ाई शुरु कर दी थी।

स्वतंत्रता-संग्राम को उसकी सफलता तक जारी रखने के लिए नेताजी ने जांबाजों, रुपये-पैसे और साजो-सामान के सारे उपलब्ध स्रोत एकसाथ जुटाने की अपील की; और उनके पूर्व-एशियाई हमवतनों ने जिस हार्दिकता से उनके आदेश का पालन किया, 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बाद भारतीय इतिहास में वह सब नहीं देखा-सुना गया था। इसके बाद का घटनाक्रम एक समूचे प्रवासी राष्ट्र—स्त्रियों, पुरुषों, युवाओं, वृद्धों, सैनिकों, श्रमिकों, कृषकों, व्यापारियों, विशिष्टकर्मियों और बाकी तमाम लोगों के एकरूप होकर मातृभूमि की मुक्ति के लिए सर्वस्व दांव पर लगा देने की शौर्य-गाथा है।

जुलाई, 1943 की 5 तारीख को नेताजी ने अपने जीवन का 'सर्वाधिक वैभवशाली दिन' बताया; क्योंकि उस दिन सिंगापुर टाउन-हॉल के सामनेवाले विशाल मैदान में उन्होंने पहली बार सर्वोच्च सेनापति—सुप्रीम कमांडर—के रूप में रण-तत्पर आजाद हिंद फौज की सलामी ली थी। अपनी फौज से उन्होंने कहा था—

> हथियारों की ताकत और खून की कीमत से तुम्हें आजादी प्राप्त करनी है। फिर जब भारत आजाद होगा, तो आजाद देश के लिए तुम्हें स्थायी सेना बनानी होगी, जिसका काम होगा हमारी आजादी को हमेशा-हमेशा बनाये रखना। राष्ट्रीय सुरक्षा-प्रणाली को हमें ऐसी मजबूत बुनियाद पर खड़ा करना होगा कि इतिहास में फिर कभी हमें अपनी स्वतंत्रता न खोनी पड़े...
>
> राजनीतिक दासता के कारण हमारे यहां, हमें उत्प्रेरित करने के लिए, मुकडेन[1], पोर्ट आर्थर[2] तथा सीडान[3] जैसी परंपरा नहीं पनप सकी...तुम्हीं में से निकलेंगे स्वतंत्र भारत के भावी सेनापति...
>
> ...मैं वादा करता हूं कि अंधेरे और उजाले में, दुख और सुख में, व्यथा और विजय में तुम्हारे साथ रहूंगा.. मैं तुम्हें भूख, प्यास, अभाव, प्रयाण-पंथ[4] और मृत्यु के सिवा कुछ नहीं दे सकता। पर अगर तुम जीवन और मृत्यु-पथ पर मेरा अनुसरण करोगे

---

1. ल्याओनिंग प्रांत, उत्तर-पूर्व चीन की राजधानी शन-यांग का पुराना नाम
2. आर्थर स्टिलवेल नामक लोकसेवक के नाम पर रखा हुआ इसी प्रांत के बंदरगाह नगर लू-शुन का पुराना नाम, जो अब लूट नगर परियोजना का हिस्सा है। चीन के ये दोनों नगर जन-आयोजित सशस्त्र मुक्ति-संघर्षों के लिए जाने और बखाने गये हैं।
3. उत्तर फ्रांस में म्यूज़ नदी के किनारे बसे नन्हें नगर सीडान में, 1870 में, फ्रांस-फारस युद्ध हुआ था, जिसमें फ्रांस हार गया था। नेताजी ने इसका दृष्टांत शायद दुश्मन के घर में दुश्मन को हराने के करतब के कारण दिया है।
4. सैन्य भाषा में 'फोर्स्ड मार्च'; अर्थात सामरिक लाचारी या नीति के कारण आगे और केवल आगे कूच

तो मैं तुम्हें विजय और स्वाधीनता तक ले जाऊंगा...

मेरे वीरो ! तुम्हारा युद्धघोष होना चाहिए—'दिल्ली चलो ! दिल्ली चलो !' आजादी की इस लड़ाई में हममें से कितने बचेंगे, मैं नहीं जानता, पर मैं यह जानता हूं कि अंत में हम जीतेंगे और जब तक हमारे बचे हुए योद्धा एक और कब्रगाह—ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कब्रगाह—दिल्ली के लालकिले पर फतह का परचम लहरा नहीं लेते, हमारा मकसद पूरा नहीं होगा।

अगले दिन महीनों तक समूचे पूर्व-एशिया में छितरी भारतीय बिरादरी में राष्ट्रीयता की नयी चेतना फूंकने, देशभक्ति जगाने, और स्वाधीनता आंदोलन की कमान संभालने वाला एक अनुशासित संगठन—जिसका मुख्यालय सिंगापुर में रखा गया—खड़ा करने के लिए नेताजी अनवरत श्रम और यात्राएं करते रहे। 21 अक्तूबर, 1943 को सिंगापुर में एक ऐतिहासिक सभा में उन्होंने 'अंतरिम आजाद हिंद सरकार' की स्थापना का ऐलान किया और इस अंतरिम सरकार को तीन विश्वशक्तियों—जापान, जर्मनी और इटली—समेत नौ देशों ने मान्यता प्रदान की। इस प्रकार, दो सौ वर्षों में पहली बार भारत के स्वाधीनता सेनानियों को अपने स्वाधीन राष्ट्रत्व की अनुभूति हुई। आजाद हिंद सरकार की पहली अधिकृत कार्रवाई थी—ब्रिटेन और अमरीका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा। अमरीका के विरुद्ध इसलिए कि भारत में वह ब्रिटेन का सक्रिय साथी राष्ट्र था। विदेश-नीति संबंधी सरकार की यह सतर्कता ठीक ही थी कि धुरी राष्ट्रों[1] में से किसी की, किसी भी युद्धोत्तर योजना के प्रति उसने किसी भी तरह की वचनबद्धता व्यक्त नहीं की और औपचारिक रूप से कहा कि युद्ध के बाद "भारतीय नागरिकों की इच्छानुसार" भारत की स्थायी सरकार बनायी जायेगी। आजाद हिंद सरकार का घोषणापत्र भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास का एक स्मरणीय दस्तावेज है। नेताजी ने कॉफी-पर-कॉफी सुड़कते हुए पूरी रात जागकर इसे लिखा था। स्वाधीन सरकार की स्थापना की घोषणा के बाद नेताजी ने राष्ट्राध्यक्ष एवं प्रधानमंत्री के रूप में पद की शपथ भी ली। वह अनमोल घड़ी भावनाओं से इतनी ओतप्रोत थी कि नेताजी सुबक उठे और उनके गालों पर आंसू बहने लगे थे।

22 अक्तूबर, 1943 को नेताजी ने आजाद हिंद फौज की 'रानी झांसी रेजीमेंट' का औपचारिक उद्घाटन किया। भारतीय वीरांगनाओं की यह युद्धक इकाई महिलाओं और पुरुषों की समानता में नेताजी के ठोस विश्वास तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र एवं उपक्रम

---

1. मूल रूप से इटली और जर्मनी की इस धुरी का गठन (1936) द्वितीय विश्वयुद्ध में संयुक्त राष्ट्रों का सामना करने के लिए हुआ था। बाद में जापान भी इसमें शामिल हो गया था; और रोम-बर्लिन धुरी रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी बन गयी थी। नात्सीवाद और फासीवाद के मुकाबले के लिए जुटे उक्त 50 राष्ट्रों ने कालांतर में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की थी।

में महिलाओं और पुरुषों को समान अवसर मुहैया कराने की उनकी दृढ़ प्रतिज्ञा की ठोस अभिव्यक्ति थी।

नवंबर, 1943 में नेताजी ने टोकियों में वृहत्तर पूर्व-एशियाई राष्ट्र-सम्मेलन—असेंबली आफ ग्रेटर ईस्ट-एशियाटिक नेशंस—में भाग लिया। पर यहां उन्होंने प्रेक्षक बने रहना ही पसंद किया। एक तो इसलिए कि अभी उन्होंने जंगे-आजादी जीती नहीं थी; दूसरे, भारत की भावी सरकार को वे जापान एवं वृहत्तर पूर्व-एशिया सह-वैभव कार्यमंडल (ग्रेटर ईस्ट-एशिया को-प्रास्पैरिटी स्फियर) के साथी राष्ट्रों की युद्धोत्तर योजनाओं और व्यवस्थाओं से किसी भी तरह सहमति में नहीं बांधना चाहते थे। इसके बावजूद, अपने प्रबल व्यक्तित्व, प्रभावशाली संतुलन, सत्यनिष्ठा तथा वाग्मिता के बल पर वे सम्मेलन पर पूरी तरह छाये रहे। सम्मेलन में दिये गये अपने ऐतिहासिक भाषण में उन्होंने पराधीन राष्ट्रों की दृष्टि से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का जायजा लिया तथा न्याय, राष्ट्रीय संप्रभुता, राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहयोग तथा एक-दूसरे को अनुदान एवं सहायता के पुनीत सिद्धांतों पर आधारित नयी विश्व-व्यवस्था का आह्वान किया। अंत में बर्मा के 'बा मा' द्वारा प्रेषित और सम्मेलन द्वारा पारित एक प्रस्ताव में "भारत के स्वाधीनता संग्राम के प्रति पूर्ण हमदर्दी और समर्थन" व्यक्त किया गया। इसके बाद प्रधानमंत्री तोजो ने सम्मेलन में घोषणा की कि अंडमान तथा निकोबार द्वीपसमूह, जिन पर उस समय जापानी सेना का कब्जा था, अंतरिम आजाद हिंद सरकार के प्रशासनिक क्षेत्राधिकार में दे दिये जायेंगे।

दिसंबर में सिंगापुर लौटने से पहले नेताजी का चीन, फिलीपीन तथा इंडोनीशिया—सर्वत्र राष्ट्राध्यक्ष के अनुरूप सत्कार हुआ। चीन में वे, अवसर का लाभ उठाकर, नानकिंग के निकट चीनी क्रांति के पिता सन-यात-सेन की समाधि पर श्रद्धांजलि अर्पित करने भी गये।

31

अंतरिम आजाद हिंद सरकार के प्रथम प्रदेश, अंडमान-निकोबार का क्षेत्राधिकार ग्रहण करने के लिए नेताजी सुभाष चन्द्र बोस 29 दिसंबर, 1943 को अंडमान पहुंचे। राष्ट्राध्यक्ष की हैसियत से, जिमखाना मैदान में एक विशाल जनसमुदाय के सामने, उन्होंने राष्ट्रीय तिरंगा फहराया। इस समारोह की तुलना उन्होंने फ्रांसीसी क्रांति के दौरान बैस्टील[1] के पतन से की। उन्होंने उन कुख्यात कालकोठरियों—सेल्युलर जेल—का अवलोकन भी किया, जहां अंग्रेजों ने भारत के सैकड़ों स्वाधीनता सेनानियों को यातनाएं दी थीं। प्रवास के दौरान नेताजी और उनके दल ने रॉस द्वीप स्थित ब्रिटिश मुख्य आयुक्त के निवास स्थान में बसेरा किया और उस पर गर्वपूर्वक राष्ट्रीय तिरंगा लहरा उठा। नेताजी ने अंडमान को 'शहीद द्वीपसमूह' तथा निकोबार को 'स्वराज द्वीपसमूह' नया नाम दिया।

आजाद हिंद फौज के भारतीय सीमा की ओर कूच की तैयारी के तौर पर, जनवरी, 1944 के पहले हफ्ते में नेताजी अपना मुख्यालय सिंगापुर से भारत के नजदीक रंगून ले आये। फरवरी, 1944 में अराकान मोर्चे पर, फौज का पहला युद्ध-संस्कार हुआ। अराकान के पास, चटगांव जानेवाली सड़क पर हुई इन झड़पों में आजाद हिंद फौज दुश्मन से बेहतर साबित हुई। इससे नेताजी और फौज के तमाम योद्धा अत्यंत प्रोत्साहित हुए, और जापानी कमान में भी हमारी सेना की युद्ध-क्षमता के प्रति विश्वास जमा।

मार्च, 1944 के मध्य में इम्फाल पर आक्रमण किया गया। पूर्व-एशिया युद्ध के इस अंतिम आक्रामक युद्ध में एम.जेड. क्यानी की कमान में आजाद हिंद फौज के पहले डिवीजन और बर्मा में अड्डा जमाये तीन जापानी डिवीजनों ने भाग लिया। बर्मा स्थित अपने सैनिक अड्डों की सुरक्षा की दृष्टि से जापानियों के लिए यह कार्रवाई आक्रामक भी थी और रक्षात्मक भी। नेताजी और आजाद हिंद फौज के लिए इसका मतलब था भावी स्वाधीनता संग्राम के लिए एक सैन्य शिविर बनाने और ब्रह्मपुत्र घाटी का रास्ता खोलने के लिए सशस्त्र क्रांतिकारियों का बलात भारत में प्रवेश। 21 मार्च, 1944 को नेताजी ने अपने अग्रिम

1. पेरिस का राजकीय कारागार, जिसे 1789 में फ्रांसीसी क्रांतिकारियों ने हमला करके नष्ट कर दिया था। यह विनाश-पर्व 14 जुलाई को बैस्टील दिवस के रूप में मनाया जाता है।

मुख्यालय में आयोजित प्रेस कांफ्रेंस में ऐलान किया कि जापानी सेना के कंधे से कंधा मिलाकर लड़ती आजाद हिंद फौज 18 मार्च को भारत में प्रवेश कर चुकी है और युद्ध अब भारतीय भूमि पर हो रहा है। भारतीय जापानी सेनाएं दीर्घ सीमांत के तीनों सेक्टरों में तेजी से आगे बढ़ रही थीं। अप्रैल के पहले हफ्ते में उन्होंने उत्तर में कोहिमा में प्रवेश किया। अप्रैल के आखिरी हफ्ते में, घेरेबंदी की अपनी महत्वपूर्ण समरनीति के तहत, वे इम्फाल से मात्र दस मील दूर थीं। प्रायः अलंघ्य भू-प्रदेश में से अपनी राह बनाती फौज को दिया गया सेनाध्यक्ष का यह 'आदेश' उत्तर-पूर्व सीमांत के पहाड़ों और दर्रों में ध्वनित-प्रतिध्वनित होता रहा :

> वहां, कुछ ही दूर—वहां, उस नदी के पार, उन जंगलों से आगे, उन पहाड़ियों के उधर फैली है हमारे सपनों की धरती, जिस धरती से हम जनमे थे और जिसकी गोद में अब हम लौट रहे हैं...लहू को लहू बुला रहा है। उठो, वक्त न गंवाओ। हथियार संभालो। वह रहा तुम्हें राह दिखानेवालों का बनाया रास्ता। इसी राह पर हम बढ़ते चलेंगे। दुश्मन की सेना से अपने बाहुबल पर हम अपना रास्ता छीनते जायेंगे। या, ईश्वर चाहेगा तो, शहीद हो जायेंगे, और चिरनिद्रा में अपनी फौज को दिल्ली ले जानेवाली राह का आलिंगन करते रहेंगे। दिल्ली का रास्ता आजादी का रास्ता है। चलो, दिल्ली!

अप्रैल के पहले हफ्ते में नेताजी ने अपने मंत्रिमंडल के सदस्य ए.सी. चटर्जी को मुक्त क्षेत्रों का नामजद गवर्नर नियुक्त किया। अंतरिम सरकार का प्रशासकीय खंड—आजाद हिंद दल—फौज के साथ साथ आगे बढ़ता मुक्त क्षेत्रों का शासन संभालने को तैयार था। जापानी प्रधानमंत्री ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि भारत के अधिकृत क्षेत्र नेताजी की अंतरिम सरकार को सौंप दिये जायेंगे।

लेकिन दिल्ली-कूच में रुकावट आ गयी—बरसात वक्त से पहले शुरू हो गयी थी। और चूंकि जापानी सेना हवाई-छत्र से वंचित थी और उसके लिए आपूर्ति मार्ग लंबा व जोखिम भरा था, जबकि आंग्ल-अमरीकी गुट का अपने आसमान पर पूरा वर्चस्व था, इसलिए इम्फाल को बचाने की आखिरी दम कोशिश करते हुए रसद-मदद गिराने में वह कामयाब रहा। इसके बावजूद भारतीय-जापानी सेनाएं मोर्चे पर तब तक डटी रहीं, जब तक मानवीय रूप से डटे रहना संभव था। अंततः वे पीछे हटने पर बाध्य हो गयीं। चिनद्विन[1] तथा इरावाडी[2] लौटने तक, तमाम रास्ते भारी संख्या में उनके वीर हताहत हुए। बर्मा पर पुनः अधिकार के लिए आंग्ल-अमरीकी प्रत्याक्रमण के बीच जापानी और आजाद हिंद फौज के सैनिक

---

1. उत्तर-पश्चिम बर्मा में इरावाडी की प्रमुख सहायक नदी
2. उत्तरी बर्मा से निकलकर दक्षिण में अंडमान सागर में गिरनेवाली बर्मा की एक प्रमुख नदी

पलायन करती अपनी गारदों को पार्श्ववर्ती हमले से बचाने के लिए जी-जान से लड़े। नेताजी युद्धरत सैनिकों के निरंतर निकट संपर्क में रहे। इस बीच कई बार उन्होंने शत्रु द्वारा घेर लिये अथवा मार दिये जाने का जोखिम भी उठाया।

6 जुलाई, 1944 को नेताजी ने रंगून रेडियो से महात्मा गांधी के नाम एक अपील जारी की। इस प्रसारण में उन्होंने भारत के संघर्ष के समकालिक इतिहास का खाका खींचते हुए गांधी जी की महान भूमिका को रेखांकित किया। फिर उन्होंने भारत के प्रति ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की नीयत और नीतियों का विशेष उल्लेख करते हुए अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का अपनी दृष्टि से विश्लेषण किया। गांधी जी से उन्होंने कहा : "मैं सचमुच यह मानता हूं कि ब्रिटिश सरकार भारत की स्वाधीनता की मांग कभी स्वीकार नहीं करेगी।" दूसरी तरफ, उन्होंने कहा कि अमरीका का सामरिक लक्ष्य है दुनिया पर हावी होना और एक अमरीकी शताब्दी की स्थापना। "इसलिए", वे बोले, "मैं इस बात का कायल हो चुका हूं कि यदि हमें आजादी चाहिए, तो हमें खून के दरिया से गुजरने को तैयार रहना होगा।" तदुपरांत नेताजी ने 1941 में भारत से गायब होने के बाद से भारत को स्वाधीन कराने के लिए उठाये गये अपने कदमों की तर्कसंगत पैरवी की। गांधी जी से उन्होंने कहा, "अगर मुझे कोई भी उम्मीद होती कि इस युद्ध जैसा एक और मौका, आजादी पाने का एक और सुनहरा मौका अपनी जिंदगी में हमें मिलेगा, तो मैं शायद घर छोड़ता ही नहीं।" और उन्होंने गांधी जी को विश्वास दिलाया, "मैंने जो भी किया है अपने देश के हित के लिए किया है, विश्व में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ाने और भारत की स्वाधीनता के लक्ष्य के निकट पहुंचने के लिए किया है।"

गांधी जी के नाम अपने संदेश का समापन उन्होंने इन शब्दों में किया : "भारत की स्वाधीनता की आखिरी लड़ाई शुरू हो चुकी है। आजाद हिंद फौज के सैनिक भारत की भूमि पर वीरतापूर्वक लड़ रहे हैं....यह सशस्त्र संघर्ष आखिरी अंग्रेज को भारत से निकाल फेंकने और नयी दिल्ली के वाइसराय-हाउस पर गर्वपूर्वक राष्ट्रीय तिरंगा लहलहाने तक चलता ही रहेगा...

"हे राष्ट्रपिता ! भारत की स्वाधीनता के इस पावन युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएं चाहते हैं।"

जापान में सरकार बदलने के बाद, अक्तूबर, 1944 में नेताजी को सलाह-मशविरे के लिए टोकियो आमंत्रित किया गया। जापान सरकार ने सम्मानित विदेशी अतिथि की हैसियत से उन्हें अपने सर्वोच्च अलंकरण से विभूषित करने का प्रस्ताव रखा। लेकिन नेताजी ने यह कहते हुए वह प्रस्ताव ठुकरा दिया कि भारत के दासतामुक्त होने तक वे कोई भी अलंकरण स्वीकार नहीं कर सकते। इस यात्रा के दौरान नेताजी ने टोकियो में सोवियत

राजूदत को एक पत्र भेजा, मगर यह बिना खोले लौटा दिया गया। इस यात्रा में नेताजी ने संपूर्ण अदायगी के वादे पर, एक बिना-शर्त भारत-जापान ऋण-समझौता भी संपन्न किया। यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जर्मन सरकार ने बर्लिन में फ्री इंडिया सेंटर को जो ऋण दिये थे, पूर्व-एशिया से नेताजी ने उन्हें एकमुश्त लौटा दिया था। थाईलैंड सरकार ने आजाद हिंद फौज को जो सुविधाएं दी थीं, उनकी एवज में भी उन्होंने उसे भारी-भरकम चंदा दिया था।

नवंबर, 1944 के अंत में, नेताजी के रंगून लौटने तक सैन्य स्थिति और भी अधिक बिगड़ गयी थी। आसमान से शत्रु के विमान लगातार बमबारी कर रहे थे और जमीन पर ब्रिटिश फौजें हर तरफ से बढ़ी आ रही थीं।

जनवरी, 1945 में नेताजी के जन्म दिवस पर रंगून के भारतीय समाज ने एक विशाल जनसभा का आयोजन किया और भारी मात्रा में सोना, आभूषण आदि दान करके, युद्ध को जारी रखने का आग्रह करते हुए, उनमें निष्ठा और विश्वास व्यक्त किया। फिर जल्दी ही नेताजी मोर्चों की ओर चले गये। इरावाडी मोर्चे पर क्यानी की कमानवाला आजाद हिंद फौज का पहला डिवीजन गंभीर खतरे में था। फौजियों और उनकी सुख-सुविधा का निरीक्षण करते नेताजी बीस घंटे रोज व्यस्त रहते, जबकि थके-मांदे उनके सहायक इस बीच तीन बार अदला-बदली करते। नेताजी को बताया गया कि फौज के कुछ अफसर और जवान भाग गये हैं, जिस पर उन्होंने तत्काल फरमान जारी किया कि पद वगैरह का लिहाज भूलकर भगोड़ों को गोली मार दी जाये।

रंगून का पतन निकट जानकर जापानी कमान ने नेताजी से कहा कि वे भी उनके साथ साथ शहर से निकल चलें। लेकिन नेताजी ने कहा कि जब तक रानी झांसी रेजीमेंट के सुरक्षित शहर छोड़ने का प्रबंध नहीं हो जाता, तब तक वे हिलेंगे भी नहीं। मजबूरन जापानियों को उनका कहा मानना पड़ा। तदुपरांत रेजीमेंट की रानियों और अपने निजी अमले के साथ रंगून से बाहर आकर वे बैंकाक की ओर बढ़े। भू-क्षेत्र अत्यंत कठिन था, बरसात में टूट-बहकर सड़कें प्रायः अलंघ्य हो गयी थीं और पूरे इलाके में युद्ध में छूटे-खोये सैनिक तथा छापामार गोरिल्ले मंडरा रहे थे। एक एक कर नेताजी के दल की सारी मोटरगाड़ियां बिगड़ गयीं। सो, सैनिक वीरांगनाओं तथा अपने निजी अमले के साथ उन्हें मीलों पैदल चलना पड़ा। रंगून से बैंकाक के उस ऐतिहासिक, पैदल सफर में उन्हें देखनेवाले सभी लोग उनकी अदम्य अंतःशक्ति, सहिष्णुता और भीषण विपरीत परिस्थितियों में भी उनकी अम्लान नेतृत्वक्षमता से अत्यंत प्रभावित हुए थे।

32

नेताजी का जंगी टोला, जिसमें रानी झांसी रेजीमेंट और उनका निजी अमला था, रंगून छोड़ने के एक महीने बाद बैंकाक पहुंचा। बर्मा के भारतीय तथा बर्मी मित्रों से उन्होंने विदा-वेला में कहा था–

> आजादी की लड़ाई का पहला दौर हम हार गये हैं, मगर सिर्फ पहला दौर हारे हैं। लड़ाई के अभी बहुत-से और दौर हैं...
>
> भारतीय आजादी की निर्णायक लड़ाई का इतिहास लिखा जायेगा, तो बर्मावासी भारतीयों का उसमें सम्मानित स्थान होगा...
>
> भारत का मुक्ति-संघर्ष जारी रखने के लिए मुझे बर्मा से जाना होगा...भारत की शीघ्रातिशीघ्र दासतामुक्ति में मेरा अटूट विश्वास अक्षुण्ण है।

आजाद हिंद फौज को जारी अपने सैन्य आदेश में उन्होंने कहा था–

> संकट की इस घड़ी में मेरा तुम्हें एक ही आदेश है, और वह है–फिलहाल हार झेलनी भी पड़े तो लड़ते लड़ते तिरंगा ऊंचा उठाये रखो; वीरों की तरह उसे फहराओ; गौरव और अनुशासन की सर्वश्रेष्ठ परंपरा निभाते हुए। भारत की भावी पीढ़ियां, जो तुम्हारे महान त्याग के कारण गुलाम नहीं, बल्कि स्वतंत्र नागरिकों के रूप में जनमेंगी, तुम्हारी स्मृति को धन्य कहेंगी और दुनिया को गर्व से बतायेंगी कि तुम–उनके पूर्वज–मणिपुर, असम और बर्मा की लड़ाइयां लड़े और हार गये, मगर इस अस्थायी असफलता के फलस्वरूप चरम सफलता और कीर्ति का मार्ग प्रशस्त कर गये।

अपने पुराने मुख्यालय, सिंगापुर लौटने के बाद नेताजी अपनी सेना के पुनर्गठन, जनसाधारण के मनोबल-उन्नयन और–मन ही मन युद्ध के पूर्वनिर्धारित दूसरे दौर के लिए–मलय प्रायद्वीप में दीर्घकालिक संग्राम के लिए सेना के प्रशासनिक एवं सशस्त्र दोनों खंडों को तैयार करने में जुट गये। साथ ही उन्होंने भारतीय नेताओं और नागरिकों के नाम रेडियो-प्रसारणों की शृंखला शुरू कर दी, जिनमें अपीलें की जातीं कि अंग्रेजों से समझौता न किया जाये; वेवल की मिन्नत-नवाजत या जिन्ना की भारत-विभाजन की रट पर ध्यान न दिया जाये। विभाजन का श्रीगणेश करने के लिए वार्ता-बैठकों में कट्टरपंथी और सांप्रदायिक शक्तियों को घुसा लाने और उन्हें राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रतिनिधियों के अगल-बगल जमा देने

की ब्रिटिश चाल के बारे में नेताजी ने भारतीय नेताओं को विशेष रूप से सावधान किया।

सोवियत संघ ने 9 अगस्त, 1945 को जापान के विरुद्ध युद्ध छेड़ा था और उसकी सेनाओं ने तत्काल मंचूरिया और जापान के उत्तरी द्वीपों पर धावा बोल दिया था। लेकिन अगले ही सप्ताह अमरीकियों ने हिरोशिमा और नागासाकी पर एटम बम फेंककर जैसा मानव-विनाश और विध्वंस किया, उसकी मिसाल युद्ध और मनुष्य के इतिहास में कहीं नहीं मिलती। इसके साथ ही जापान का भाग्य देवता भी सो गया और 14 अगस्त, 1945 को उसने मित्र-राष्ट्रों के समक्ष बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया।

जिस समय जापान के आत्मसमर्पण की खबर पहुंची, उस समय नेताजी रानी झांसी रेजीमेंट का एक सांस्कृतिक कार्यक्रम देख रहे थे। अविचलित उन्होंने पूरा कार्यक्रम देखा और मुख्यालय लौटकर मंत्रिमंडल की आपात बैठक बुलवायी। इंतजाम किया गया कि अगले दो दिनों में उनकी सरकार के असैनिक कर्मचारियों और सिंगापुर तथा आसपास अवस्थित आजाद हिंद फौज के सैनिकों को विधिवत सेवानिवृत्त कर दिया जाये। 15 अगस्त, 1945 को सेनाध्यक्ष द्वारा जारी विशेष सैन्य आदेश में उन्होंने आजाद हिंद फौज के साथियों से कहा—

> मातृभूमि की मुक्ति के लिए संघर्ष करते आज हम एक अकल्पित संकट से घिर गये हैं। इस तिमिराच्छन्न वेला में मेरा तुमसे आग्रह है कि सच्चे अर्थों में क्रांति-सेना के अनुरूप अनुशासन, गरिमा और दृढ़ मनस्विता से परिपूर्ण आचरण करो, भारत के प्रति निष्ठावान रहो और भारतीय प्रारब्ध के प्रति अपनी आस्था को क्षण भर भी मत डोलने दो। दिल्ली पहुंचने के रास्ते कई हैं और दिल्ली ही अब भी हमारा लक्ष्य है। भारत आजाद होगा और जल्द होगा।

इसी तारीख को पूर्व-एशिया के भारतीयों से एक संदेश में उन्होंने कहा—

> हाल ही में भारतीय स्वाधीनता संग्राम का एक कीर्तिपूर्ण अध्याय संपूर्ण हुआ है और इस अध्याय में भारत के पूर्व-एशियायी बेटे-बेटियों का स्थान अमिट रहेगा। हमारी अस्थायी असफलता से हताश न हों। दुनिया की कोई ताकत भारत को गुलाम नहीं रख सकती।

ऐसा माना जाता है कि बर्मा के पतन से ही नेताजी सोवियत क्षेत्र में पहुंचकर भारतीय स्वाधीनता के लिए अपनी लड़ाई जारी रखने की योजना बनाने लगे थे। टोकियो में जापानी सर्वोच्च कमान उनके इस विचार को पसंद नहीं करती थी; लेकिन दक्षिण में जापानी सेना के सुप्रीम कमांडर तेराऊची सहित कुछ उच्चपदस्थ सैनिक अधिकारी नेताजी की भावी योजनाओं में उनकी सहायता करना चाहते थे। 15 अगस्त, 1945 की मंत्रिमंडलीय बैठक में फैसला किया गया कि नेताजी हबीबुर्रहमान, एस.ए. अय्यर, आबिद हसन, देवनाथ दास

और कुछ अन्य साथियों के साथ टोकियो चले जायें। वे लोग विमान से टोकियो रवाना हो गये, और रास्ते में बैंकाक और सैगॉन में रुके। सैगॉन में नेताजी को एक विशाल जापानी बमवर्षक में स्थानांतरित कर दिया गया। नेताजी को बैठाने के बाद चूंकि इस बमवर्षक में एक ही सीट खाली बची थी, इसलिए हबीबुर्रहमान उनके साथ बैठ गये और तय हुआ कि बाकी लोग पीछे पीछे चले आयेंगे। सैगॉन के बाद नेताजी और उनके मेजबानों ने उत्तर-हिंदचीन में टूरेन में रात बितायी। 18 अगस्त को इसी बमवर्षक में वे लोग ताइवान के लिए रवाना हो गये ताकि दाइरेन[1] मंचूरिया के रास्ते टोकियो पहुंच सकें। 23 अगस्त, 1945 को टोकियो रेडियो ने बताया कि यह विमान ताइहोकू हवाई अड्डे से उड़ान भरते ही ध्वस्त हो गया था, दुर्घटना में जापानी जनरल शीदेई, पायलट तथा कुछ और लोग मारे गये थे, जबकि नेताजी गंभीर रूप से जल गये थे। रेडियो ने आगे बताया कि नेताजी ने भी उसी रात ताइहोकू सैनिक अस्पताल में अंतिम सांस ली। हबीबुर्रहमान के अनुसार, उनका अंतिम संस्कार ताइहोकू में ही कर दिया गया था। सितंबर के मध्य में उनकी अस्थियां जापान पहुंचायी गयीं और टोकियो के रेंकोजी मंदिर में रख दी गयीं। भारत में बहुत-से लोग आज भी इस समाचार-विवरण पर विश्वास नहीं करते।

बर्मा-युद्ध के दौरान, और खासकर रंगून के पतन के बाद आजाद हिंद फौज के पराक्रम की खबरें रुक-रुककर भारत पहुंचती रहीं। फिर जब ऐसी खबरें मिलने लगीं कि फौजी बंदियों से जेलों में दुर्व्यवहार किया जा रहा है और उनमें से कुछ को प्राणदंड भी दे दिया गया है, तो जवाहरलाल नेहरू ने बयान दिया : "फौजी बंदियों को दिया गया दंड समूचे भारत और सारे भारतीयों को दिया गया दंड माना जायेगा।" सितंबर में जेल से छूटकर शरत्चन्द्र बोस ने ब्रिटिश सरकार को दो टूक चेतावनी दी : "आजाद हिंद फौज के अफसरों और जवानों का बाल भी बांका नहीं होना चाहिए।" इस तरह की घोषणाओं ने नेताजी और आजाद हिंद फौज के प्रति भारतीय जनता की भक्ति और भावनाएं नितांत स्पष्ट कर दीं।

सन् 1945 में जब द्वितीय विश्वयुद्ध खत्म हुआ तो भारतीय स्वाधीनता संग्राम प्रायः हताशा की दशा में था। अगस्त विद्रोह तथा आजाद हिंद फौज की जिहाद की विफलता के बाद राष्ट्रवादी शक्तियों को कुंठा और अवसाद ने दबोच लिया था। किंकर्तव्यविमूढ़ता की इसी स्थिति में आजाद हिंद फौज का मसला भारतीय क्षितिज पर वरदान की तरह अवतरित हुआ और एक व्यक्ति की भीम-छाया भारत की राजनीति को पुनः स्फूर्त करती चली गयी। यह व्यक्ति-छाया थी नेताजी सुभाष चन्द्र बोस की। आजाद हिंद फौज के बंदियों की वापसी और पूर्व एशिया से प्रत्यावासित देशभक्तों की बदौलत भारत में फिर से आमूल

1. अब दालाइन, बंदरगाह, ल्यानिंग प्रांत, उ.पू. चीन

क्रांतिकारी वातावरण बन गया। आजाद हिंद फौज तथा नेताजी पर डाला गया ब्रिटिश सेंसरशिप का रहस्यावरण विदीर्ण हो गया और आजाद हिंद आंदोलन के साहसिक कृत्यों एवं जीवंत आख्यानों से उत्प्रेरित समूचा राष्ट्र राजनीतिक सहमति-असहमति, जात-पांत, मत-पंथ, छोटे-बड़े अथवा स्त्री-पुरुष का भेद भूलकर, आम धरातल पर, देशभक्तिपूर्ण गतिविधियों के नये शिखर छूने लगा। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने आजाद हिंद फौज के तीन बंदी अफसरों—शाहनवाज, सहगल तथा ढिल्लों—की पैरवी के लिए भूलाभाई देसाई की प्रधानता में एक बचाव समिति गठित की और आजाद हिंद फौज के तीनों मरदाने रातों-रात राष्ट्रनायक बन गये। 'जय हिंद' जैसे राष्ट्रीय नारा बन गया और ब्रिटिश सशस्त्र सेनाओं में गहरी खलबली मच गयी। इसका नतीजा हुआ रायल इंडियन एयर फोर्स तथा रायल इंडियन नेवी में खुला विद्रोह। इस प्रकार, 1946 के प्रारंभ में, जैसी कि नेताजी की भविष्यवाणी थी, युद्धोत्तर घटना-ज्वार भारत को स्वाधीनता के द्वार तक बहा ले गया। ब्रिटिश ताज के प्रति नेताजी ने अब मानो भारतीय सशस्त्र सेनाओं की वफादारी ध्वस्त करके उनमें भारत एवं भारतीय स्वाधीनता के प्रति आस्था का आरोपण करने का अपना सामरिक लक्ष्य भी पा लिया था। इसके अलावा उन्होंने आंग्ल-अमरीकी प्रत्याक्रमण के विरुद्ध बर्मा-युद्ध में आजाद हिंद फौज की शिरकत से स्थापित नयी सैन्य परंपरा द्वारा भारतीय सेना के भारत में ही नहीं, समूचे पूर्व-एशिया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दमन-यंत्र के रूप में इस्तेमाल होने की पुरानी परंपरा भी खत्म कर दी थी।

उपसंहार

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में अपने सर्वांगीण वैशिष्ट्य के कारण नेताजी सुभाष चन्द्र बोस सबसे अलग नजर आते हैं। शारीरिक और मानसिक रचना, आचरण और जीवन-शैली, विचार और व्यवहार—जिसमें साहसिकता और नाटकीयता भी भरपूर मात्रा में थी—की दृष्टि से, बल्कि संपूर्ण व्यक्तित्व और उपलब्धियों की दृष्टि से वे बीसवीं शताब्दी के भारत के एक चमत्कारी व्यक्ति थे।

जिस समय वे जनमे थे, बंगाल का नवजागरण अपनी पराकाष्ठा पर था। नयी राष्ट्रीय चेतना ने, जो तब तक दृष्टिगोचर होने लगी थी, उनके प्रारंभिक विकास पर पूरा पूरा प्रभाव डाला था। वे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के साथ साथ अच्छी तरह हिल-मिलकर बड़े हुए थे और उसकी मनुहार पर उनकी प्रतिक्रिया और प्रत्युत्तर सकारात्मक थे। बचपन में, इंगलिश मिशनरी स्कूल में पढ़ते हुए उन्हें वहां के वातावरण में जो परायेपन की बू आयी थी उससे वे मन ही मन विद्रोही बन गये थे। शेष जीवन में वे मानवतावादी, विवेकानन्दी सांचे में ढले सामाजिक क्रांतिचेता, और सबसे बढ़कर, अतिनिर्मम अनुभव-प्रक्रिया से गुजरे-तपे राजनीतिक योद्धा बनकर उभरे। समकालिक इतिवृत्त में शायद ही ऐसा कोई मिलेगा, जिसे इतनी कम उम्र में इतनी बलिष्ठ लक्ष्य-चेतना ने इतना अभिभूत किया हो। 1921 में आई.सी.एस. के त्याग ने उनके भावी जीवन-पथ पर जो प्रारब्धादेश उकेरा था, उसके अनुसार उन्हें न तो पीछे हटने की अनुमति थी, न आत्मसमर्पण की।

इंडियन नेशनल कांग्रेस का विधिवत सदस्य बनने से पहले 1920 में, कैंब्रिज के छात्र-जीवन से ही, उनकी स्पष्ट धारणा बन चुकी थी कि नव-भारत के निर्माण में कांग्रेस की भूमिका क्या होनी चाहिए। उनके विज्ञानसम्मत अभिमत और विचार से भारत को स्वाधीन करानेवाली पार्टी को ही दीर्घकालिक शोध एवं योजना-प्रणाली पर आधारित राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का माध्यम भी बनना चाहिए था। उस जमाने में भी वे जन-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, स्वाधीन राष्ट्र का दायित्व उठाने और उसे उन्नत बनाने के लिए, शोधकर्ताओं तथा प्रशिक्षित काडरों की शब्दावली में सोचा करते थे।

नेताजी ने अपनी भूमिका स्वाधीनता संग्राम के अंतिम, निर्णायक पच्चीस वर्षों के दौरान निभायी थी। उनकी राजनीति प्राचीन एवं नवीन राजनय के गहन, वैज्ञानिक विवेचन और

खासकर ब्रिटेन की विजय एवं राज के तटस्थ अध्यापन पर आधारित थी। उनका पक्का निष्कर्ष था कि औपनिवेशिक गुलामी में जकड़ी भारतीय जनता और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मौलिक हित परस्पर विरोधी हैं। इसलिए इन दोनों शक्तियों में किसी भी तरह का तालमेल या समझौता असंभव है। अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता एवं विश्वास के अनुरूप ब्रिटिश राज के प्रति उनका विरोध संपूर्ण था और उन्होंने सोच-समझकर एवं जान-बूझकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए गैर समझौतावादी संघर्ष-पथ चुना था। वे यह भी मानते थे कि भारतीय राष्ट्रवाद तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद में अंतिम एवं निर्णायक भिड़त उनकी पीढ़ी के जीवन-काल में ही हो जायेगी और इस अंतिम संग्राम में भारत की विजय पूर्वनिश्चित करना इस पीढ़ी के राष्ट्रीय क्रांतिकारियों का इतिहास-निर्दिष्ट कार्य एवं दायित्व है। चूंकि इंडियन नेशनल कांग्रेस को वे भारतीय जन-संघर्ष का सर्वोपरि साधन मानते थे, इसलिए उनका अनवरत और अनथक प्रयास यह रहा कि एक तो कांग्रेस को व्यापक साम्राज्यवाद-विरोधी मोर्चे का स्वरूप मिले तथा दूसरे, उसे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में समझौताविहीन राह पर ले आयें। 1928 की कलकत्ता-कांग्रेस में उनके द्वारा स्वाधीनता-प्रस्ताव का प्रवर्तन, 1929 की लाहौर-कांग्रेस में समानांतर सरकार बनाने और संपूर्ण बहिष्कार का आह्वान, 1938 की हरिपुरा-कांग्रेस में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति को स्वतंत्र भारत के छाया-मंत्रिमंडल के रूप में गठित करने का सुझाव तथा राष्ट्रीय योजना समिति की स्थापना, और फिर अंततः 1939 की त्रिपुरी-कांग्रेस में अंग्रेजों को भारत छोड़ने की चेतावनी देने का आह्वान—ये सारी बातें उनकी वैचारिक वचनबद्धता तथा राष्ट्रीय संग्राम के उनके पूर्वनिर्धारित सामरिक उद्देश्य के संदर्भ में समझनी होंगी।

सन् 1938 में कांग्रेस का अध्यक्ष-पद ग्रहण करते हुए नेताजी ने अपनी राजनीतिक विचारधारा का सार देते हुए कहा था, "इंडियन नेशनल कांग्रेस को व्यापकतम साम्राज्यवाद विरोधी मोर्चे पर तैनात करना होगा और उसका लक्ष्य दोहरा होगा—राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करना और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करना।" कांग्रेस कई वर्षों से साम्राज्यवादी युद्धों में, कहीं भी, ब्रिटेन द्वारा भारत के शोषण का विरोध करती आ रही थी। नेताजी चाहते थे कि कांग्रेस इस नीति पर सतत अडिग रहे और भारत में ब्रिटिश शासन को ठप कर देने के लिए जन-आंदोलन को तीव्र करे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि सत्ताधारी कांग्रेसी नेतृत्व ऐसे संघर्ष के प्रति उदासीन है तथा पार्टी का वामपंथी धड़ा फूट और अंतहीन सैद्धांतिक तर्क-वितर्क के कारण जर्जर हो चुका है, तो उन्हें बड़ी निराशा हुई। 1939 के बाद भी, जब दुनिया युद्ध की लपटों में झुलसने लगी थी और साम्राज्य ढहने लगे थे, स्थिति यही रही। फलस्वरूप क्रांतिमूलक संभावनाओं से परिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय युद्ध-संकट के दौरान उन्होंने जीवन का सबसे अहम फैसला किया; और यह था—सैन्य क्रांति द्वारा भारत को स्वाधीन

कराने का निश्चय।

यह सामरिक लक्ष्य जो कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सुभाष ने अपने लिए निर्धारित किया था, ब्रिटिश भारत में उसकी विशेषताओं एवं त्रुटियों तथा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की विशेषताओं एवं त्रुटियों के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित था। उन्हें विश्वास था कि भारत क्रांति के लिए परिपक्व है, जबकि शेष राष्ट्रीय नेतृत्व ऐसा नहीं मानता था। अतः वे यह भी मानते थे कि संपूर्ण जन-सत्याग्रह द्वारा ब्रिटिश गढ़ी को हलकान करके घुटने टेकने पर मजबूर कर देने की कोई संभावना नहीं है। इन परिस्थितियों में नेताजी को उस एकमात्र शक्तिशाली तत्व—भाड़े की टट्टू ब्रिटिश इंडियन आर्मी—को ही काबू करने की सूझी जो ब्रिटिश राज को भारत में ठेले जा रहा था और अभी तक ब्रिटिश ताज की नमकहलाली कर रहा था। नेताजी ने अंतर्राष्ट्रीय युद्धस्थिति के दौरान ही इस पुरानी वफादारी को ध्वस्त करके उसकी जगह इन भारतीय सैनिकों में भारत और भारतीय स्वाधीनता के प्रति नयी वफादारी जगाने का बीड़ा उठाया था। इसी उद्देश्य से वे यूरोप और पूर्व एशिया-प्रवास में, किसी भी उपलब्ध साधन और किसी भी उपलब्ध मार्ग से बलपूर्वक भारत में घुसे, ताकि विद्रोह की ज्वाला प्रज्वलित करने के लिए क्रांतिकारी स्वयंसेवी मुक्ति सेना का गठन किया जाये और उन्होंने ठीक यही किया भी। भारत के स्वाधीनता आंदोलन में, जो उस समय लगभग सौ साल पुराना हो चला था, एक ऐसे महत्वपूर्ण तत्व का अभाव था जो किसी भी क्रांतिकारी उद्रेक के लिए जरूरी होता है, और यह था सैनिक परंपरा का अभाव। नेताजी द्वारा स्थापित इस नयी सैनिक पंरपरा ने न सिर्फ भारत में सेना द्वारा साम्राज्यवाद की ताबेदारी की पुरानी परंपरा नष्ट की, बल्कि इस प्रक्रिया में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का वह शक्तिशाली उपकरण भी नष्ट कर दिया, जिससे वह भारत ही नहीं, समूचे पूर्व एशिया में दमनचक्र चलाया करते थे।

नेताजी को घटनामंच से अदृश्य हुए लगभग पांच दशक हुए हैं। तब से विश्व तथा भारत की राजनीतिक स्थिति गंभीर रूप से बदल चुकी है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद एशिया के अधिकांश भागों में पराजित हो चुका है, लेकिन दुनिया के कई हिस्सों में साम्राज्यवाद का नया रूप सिर उठाने लगा है। मानव-स्वांतत्र्य को पहले जैसे खतरे आज भी घेरे हुए हैं। इसलिए, साम्राज्यवाद-विरोध के अमर प्रतीक के रूप में, नेताजी सुभाष चन्द्र बोस आज भी समूची दलित मानव-जाति के लिए आशा और प्रेरणा के अग्रदूत हैं। भारतवासियों के लिए वे अब भी यथावत आस्था और आश्वासन के स्रोत हैं—इतिहाससम्मत प्रारब्ध में भारत की अमिट आस्था और नयी समतावादी समाज-व्यवस्था का आश्वासन; उस व्यवस्था का आश्वासन जो दो शताब्दियों तक विश्व भर में किये-आजमाये सामाजिक प्रयोगों के समन्वय पर आधारित है।

मनुष्य और विचारक के रूप में भी नेताजी एक नये दर्शन की, मानवीय क्रियाकलाप और एक नयी नैतिक धारणा की खोज करते रहे। समकालीन विश्व-इतिहास में वे निश्चय ही विरल कोटि के इंसान थे, जिन्हें भारत की महान आध्यात्मिक विरासत से भी गहरा लगाव था और विश्व भर के अधुनातन सामाजिक एवं तकनीकी अन्वेषणों से भी बराबर का सरोकार था। उन्होंने अनन्य निष्ठा, ललकार-भरी साहसिकता, औघड़ त्याग एवं किसी भी समझौते या कुछ भी रख छोड़ने की अनुमति न देनेवाले लक्ष्य के लिए मिटकर अपने देशवासियों को उत्प्रेरित करने का प्रयास किया था। इसमें उन्हें भारी सफलता मिली, इसलिए नेतृत्व के क्षेत्र में वे आज भी एक मिसाल हैं। इसलिए, इसके बावजूद कि वे वक्त से बहुत पहले चले गये, उनकी वैचारिक एवं कार्मिक विरासत अभी तक मौजूद है और भावी पीढ़ियों के लिए भी बनी रहेगी। कौन जानता है, भारत एक बार फिर नेताजी सुभाष चन्द्र बोस को खोज निकालेगा और, उन्हीं के शब्दों में, "विश्व को यह संदेश देगा जो सदियों से उसकी विरासत रहा है।"

संदर्भ ग्रंथ सूची

नेताजी : कलेक्टेड वर्क्स, भाग 1 : द इंडियन पिलग्रिम एंड लैटर्स-1987-1921; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1980

नेताजी : कलेक्टेड वर्क्स, भाग 2 : द इंडियन स्ट्रगल 1920-1942; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1981

नेताजी : कलेक्टेड वर्क्स, भाग 3 : कारस्पाडेंस 1920-1926; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1981

नेताजी : कलेक्टेड वर्क्स, भाग 4 : कारस्पाडेंस 1926-1932; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1982

नेताजी : कलेक्टेड वर्क्स, भाग 5 : कारस्पाडेंस, स्पीचेज एंड राइटिंग्स 1926-1929; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1985

क्रासरोड्स : कलेक्टेड वर्क्स ऑव सुभाष चन्द्र बोस 1938-1940; द्वितीय संस्करण; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1981

नेताजी एंड इंडिया'ज फ्रीडम : प्रोसीडिंग्स ऑव द फर्स्ट इंटरनेशनल नेताजी सेमिनार 1973; संपादक, शिशिर कुमार बोस; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1975

नेताजी : ए विक्टोरियल बायोग्राफी; संपादक, शिशिर कुमार बोस तथा वीरेन्द्रनाथ सिन्हा; आनन्द पब्लिशर्स (प्रा.) लि., कलकत्ता, 1979

फंडामेंटल क्वेस्चंस ऑव इंडियन रेवोल्यूशन; सुभाष चन्द्र बोस; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1970

द ग्रेट एस्केप; शिशिर कुमार बोस; प्रथम संस्करण; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1975

ए बीकन एक्रास एजिया : ए बायोग्राफी ऑव सुभाष चन्द्र बोस; संपादक, शिशिर कुमार बोस, ए वर्ट तथा एस.ए. ऐयर; ओरिएंट लांगमैन, नयी दिल्ली, 1973

आई वान्र्ड माई कंट्रिमैन : कलेक्टेड वर्क्स ऑव शरत्चन्द्र बोस 1945-1950; नेताजी रिसर्च सेंटर, कलकत्ता, 1968

द वायस ऑव शरत्चन्द्र बोस : सिलेक्टेड स्पीचेज 1926-1941; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1979

द आरेकिल : ए क्वार्टरली रीव्यू ऑव हिस्टरी, करेंट अफेयर्स एंड इंटरनेशनल रिलेशंस, भाग 1 से 8; नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता

अनुक्रमणिका

मुद्रक : कपूर आर्ट प्रेस, ए ३८/३ मायापुरी फेज़ १, नई दिल्ली ११००६४

हमारी पूरी कोशिश है कि आपको हिंदी की अधिकतम पुस्तकें मुफ्त उपलब्ध करायी जायें और इन्टरनेट पर हिंदी की उपस्थिति को अधिक से अधिक बढ़ाया जाए | इसी क्रम में मैं आपके सामने एक से एक अधिक पुस्तकें प्रस्तुत कर रहा हूँ |

परन्तु जैसा कि आप जानते हैं इंटरनेट पर किताबें अपलोड करने , उन्हें हमेशा उपलब्ध रखने , तथा साईट अच्छी तरह और सरल रूप से काम करे इसके लिए अत्यंत मेहनत के साथ साथ संसाधनों की भी आवश्यकता होती है , और यही वह कारण है जिसकी वजह से अभी तक हिंदी भाषा की कोई भी वेबसाइट एक दो साल से ज्यादा नहीं चली है और बहुत ही अल्प समय में एक से एक अच्छी वेबसाइट बंद हो चुकी हैं |

यह चुनौती हमारे सामने भी है , लेकिन एक विश्वास भी कि हिंदी के जागरूक हो रहे पाठकों को इस समस्या के बारे में अंदाज़ा है और वे इस बारे में केवल मूकदर्शक नहीं है | हम आपको हिंदी की पुस्तकें देंगे , हिंदी में जानकारी देंगे और बहुत कुछ देंगे और हमें आशा है कि आप भी हमे बदले में अपना प्यार देंगे और हमारी मदद करेंगे हिन्दी को सम्म्रद्ध बनाने में |

अपना हाथ बढाइये और हमारी मदद कीजिये | मदद करने के लिए जरूरी नहीं है कि आप पैसे या आर्थिक मदद ही करें , आप जिस तरह चाहें उस तरह हमारी मदद कर सकते हैं | हमारी मदद करने के तरीकों को आप यहाँ देख सकते हैं |

आशा है आप हमारी सहायता करेंगे |

अगर आपको हमारा प्रयत्न पसंद आया हो तो सिर्फ 500 रू. का सहयोग करे| आपका सहयोग हिंदी साहित्य को अधिक से अधिक विस्तृत रूप देने में उपयोगी होगा | आप Paypal अथवा बैंक ट्रान्सफर से सहयोग कर सकते हैः | अधिक जानकारी के लिए मेल करें preetam960@gmail.com अथवा यहाँ देखें

धन्यवाद